दीपदान

प्रेमचन्द तथा सुदर्शन के समकालीन कथाकार राजेश्वर प्रसाद सिंह की सात कहानियों के इस संग्रह में पाठक को विविध रसों की प्राप्ति तो होगी ही, साथ ही कहानी-कला की नवीनतम टेकनीक भी देखने को मिलेगी। इन कहानियों के पात्रों में पाठक को अपने जाने-पहचाने चरित्रों की झलक मिलेगी।

दीपदान

राजेश्वर प्रसाद सिंह

नीलाभ प्रकाशन

इलाहाबाद

प्रकाशक

नीलाभ प्रकाशन

५, खुसरोबाग़ रोड

इलाहाबाद

चित्रकार

सुप्रभात नन्दन

मूल्य

३ रुपये

मुद्रक

सरजू प्रसाद तिवारी

श्री विष्णु प्रिंटिंग वर्क्स

कटरा, इलाहाबाद

अनुक्रम

अवलंब : ६

बादल : ३६

अन्नक्षेत्र : ४५

राग : ७०

आहुति : ६२

सेठजी : १०६

दीपदान : ११८

दीपदान

प्रवलंब

यह जो दीपक अनायास ही जल उठा है मन-मन्दिर में, इसका दिव्य, पावन आलोक व्याप्त हो रहा है कण-कण में। जलता रहे यह दीपक! व्याप्त रहे इसका दिव्य, पावन आलोक कण-कण में!

अपार आकर्षण, अपरिमित सौंदर्य बिखरा पड़ा है इस बहुरंगी जग के कोने-कोने में। सब तो कोई पा नहीं सकता। थोड़ा भी माँगता है कोई, तो क्या पा ही जाता है? पाता है कोई बिरला ही।

अच्छा घर-वर खोज कर माँ-बाप ने ब्याह कर दिया। इससे अधिक क्या चाहिए लड़की को? अपने बच्चों का अहित नहीं, कल्याण ही चाहते हैं माँ-बाप।

वैभव-सम्पन्न ससुराल, मानने वाले सास-ससुर, चाहने वाला पति। इससे अधिक क्या चाहिए लड़की को? किन्तु यह सब पा कर भी क्या सुखी हो सकी रेखा? नहीं हो सकी, नहीं हो सकी।

पड़ोस में एक मास्टर साहब रहते हैं। उनकी बेटी अचला से मन मिल गया है। खूब पटती है दोनों की। अचला कुछ कविता कर लेती है मस्ती से झूम-झूम कर वह अपनी रचनायें सुनाती है, और रेखा से सराहना पा कर जैसे सातवें आसमान तक पहुँच जाती है। बड़ी अच्छी, बड़ी प्यारी लड़की है अचला। दिल वाली है, और दिल वालों की कद्र कर सकती है। प्रतिभा-सम्पन्न है, पैनी दृष्टि रखती है। जिस सूझ-समझ का उसने आज परिचय दिया, वह साधारण नहीं।

कलेज में आज छुट्टी थी। दोपहर के समय वह आई। बातें होने लगीं। वार्त्तालाप का सिलसिला टूट गया कुछ समय के बाद। खामोशी रही थोड़ी देर तक। एकाएक उसने कहा—"तुम्हें देखती हूँ, रेखा, तो कुहासे से ढँकी हुई एक सुन्दर, सुविकसित पुष्प-वाटिका का दृश्य आँखों के सामने घूम जाता है! ऐसा क्यों होता है, सखी?"

कुहासे से ढँकी हुई सुन्दर, सुविकसित पुष्प-वाटिका! सुन्दर, सुविकसित पुष्प-वाटिका, किन्तु कुहासे से ढँकी हुई! क्या उत्तर दे रेखा? चुप रही।

"क्या तुम्हें कोई दुख है, तुम्हारे दिल में कोई दर्द है, जिसकी छाया कुहासे की तरह, तुम्हारे सुन्दर मुख-मण्डल पर छाई रहती है?" स्वर में अपार समवेदना भर कर कहा अचला ने।

दिल में एक टीस उठी। गले में कुछ आ अटका। आँखों में सावन-भादों की-सी घटायें उमड़ने लगीं। यह क्या किया तुमने अचला? दूसरे के जख्म पर इस तरह कोई ठेस लगाता है? भावों के आघात-प्रतिघात, भावनाओं की आँधी। सिर झुका लिया। आखें मीच लीं। दाँत जकड़ लिये।

"बोलो, सखी!" गले में बाँह डाल कर, सिर से सिर सटा कर,

अचला ने कहा—"क्या मेरा अनुमान सत्य है ?...क्या सचमुच तुम्हारे दिल में कोई दर्द है ?"

अब नहीं सहा जायगा। बाढ़ रोकी नहीं जा सकेगी। आँसू की बूँदें ढुलकने लगीं कपोलों पर बन्द आँखों से बरबस निकल-निकल कर।

अपार स्नेह, अगाध करुणा, अपरिमित समवेदना से बाँध लिया अचला ने उसे अपनी बाँहों में। और वह उसके कंधे पर सिर रख कर सिसक-सिसक कर रोने लगी। कलेजा जैसे फट जायगा, दिल जैसे बैठ जायगा। छलक आये आँसू अचला की आँखों में भी।

सब-कुछ जैसे मौन हो गया, स्थिर हो गया। केवल बहती रहीं आँसू की धारें अविरल गति से।

एकाएक अचला की बाँहें हटा कर, रेखा तेजी से कमरे के बाहर चली गई। अचला बैठी रही चुपचाप, सिर झुकाये हुए। कैसी नादानी हो गई उस से अनायास ही। दूसरों के मामलों में बेमतलब दखल देना अक्लमन्दी नहीं। बेचारी का दिल दुख गया बेकार।...किन्तु क्या उसका दिल दुख नहीं रहा था पहले ही से ? भावों का यह विकट विस्फोट ! जैसे स्विच दबाते ही फट पड़ी हो बारूद से भरी सुरंग ! दिल में उमसता हुआ दुख यदि किसी तरह बाहर निकल जाय, तो जी हल्का हो जाता है। बस, इतनी ही तो है उसकी खता कि सखी के मन में भरा हुआ दुःख उसके क्रियाशील कौतूहल का सहारा पा कर बाहर निकल पड़ा। खतावार सही वह, पर अच्छा ही हुआ यह।...नहीं-नहीं, अपकार नहीं, उपकार ही हुआ यह। न निकलता इस तरह, तो वह उमसता हुआ दुख न जाने क्या-क्या आफतें ढाता। अच्छा ही हुआ, जो कुछ हुआ। फिर भी...

वापस आई रेखा। मुख धुल गया था। लेकिन अब भी गीली थीं आँखें। तूफान निकल गया था, लेकिन घटायें अब भी घिरी थीं, और

लगता था कि अब बरसीं, अब बरसीं। अचला सिहर उठी। क्षण भर मौन रह कर बोली—"रेखा, अनायास ही इस समय जो अपराध मुझ से बन पड़ा है, उसके लिए मुझे गहरा दुख है। क्षमा करना!...अच्छा, जाती हूँ अब। फिर आऊँगी किसी दिन।" और वह उठ कर चली गई धीरे-धीरे।

रेखा खड़ी रही मूर्तिवत कई क्षण तक। फिर दीर्घ निश्वास खींच कर, शयन-कक्ष में जा कर गिर पड़ी पलँग पर। अपराध बन पड़ा अचला से ? नहीं, नहीं।...चाहा था कि आश्वासन दे दे उसे कि बात ऐसी नहीं, किन्तु गले में जाने क्या आ कर अड़ गया था, कि कुछ कह सकना असम्भव सिद्ध हो रहा था। चली गई बेचारी अफ़सोस करती हुई। नहीं, नहीं, अचला, अफसोस मत करो! कोई बुराई नहीं की तुमने। मुहब्बत से हाथ रक्खा था तुमने। क्या जानती थीं तुम कि वहाँ एक पका हुआ फोड़ा है!...अनुमान सत्य था उसका, किन्तु स्थिति की भयानकता का आभास नहीं मिला था उसे। स्थिति की भयानकता! विपरीत दिशा की ओर इंगित करने वाली एक रेखा भी तो नहीं उस में। विकट अशान्ति, असह्य मर्म-वेदना, भयानक विडम्बना! और इनके सम्मिलित प्रभाव को कम करने वाली कोई बात नहीं।

'जो बीत गई, सो बीत गई, अब उसकी याद सताये क्यों!'

किन्तु यादें हैं, कि आये बिना नहीं रह सकतीं। उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। और यदि अतीत सिर पर वितान बन कर छाया हो, तो उसकी ओर से नजर फेर लेने पर भी, आँखें बन्द कर लेने पर भी उससे बचा नहीं जा सकता।

हजारों-लाखों मनुष्य ट्रेन के मुसाफिरों की तरह हमारी आँखों के सामने से गुजरते हैं, और हमेशा के लिये ओझल हो जाते हैं। लेकिन

कभी-कभी ऐसे लोग भी सामने आते हैं, जो हमारे निकट डट कर बैठ जाते हैं, और उन से बरबस अपनापा जुड़ जाता है। क्यों आते हैं वे हमारे सामने ? क्यों जुड़ जाता है उन से अपनापा ?

पिताजी के एक मित्र, रघुबीर सहाय, की प्रेरणा से वे उस मुहल्ले में आ बसे थे। बड़ा साफ-सुथरा, बड़ा स्वास्थ्यप्रद था वह मुहल्ला। अन्य मुहल्लों की तरह एक-दूसरे से सटे हुए घर वहाँ नहीं थे। कला की दृष्टि से तो वे निर्दोष न थे, और उन सब का सामूहिक रूप भी सुन्दर न था, किन्तु वे असुन्दर भी न थे। हर घर के आगे-पीछे थोड़ी-थोड़ी खुली जमीन थी, जो शाक-सब्जी उगाने और पेड़-पौधे लगाने के काम आती थी।

अन्य घरों जैसा अपना भी घर था। बहुत भला लगा सब लोगों को।

उसी दिन संध्या समय जब वह सामान सँभालने-सजाने में अम्मा की सहायता कर रही थी, वह आया। लम्बा कद, गोरा रंग, सुडौल शरीर, निर्दोष नख-शिख।

"नमस्ते, चाचीजी !" किंचित मुस्करा कर, उसने कहा।

"खुश रहो, भैया ! आओ।"

सहन पार कर के, वह दालान में पास आकर खड़ा हो गया। जैसे एक मीनार पास आकर खड़ी हो जाय, और देखने वाला अपनी ही नजर में बौना-सा बन जाय ! कनखियों से उसने एक बार उसकी ओर देखा, और गड़ी-सी जाने लगी। मन जाने कैसा होने लगा। जी चाहा कि भाग कर ऊपर चली जाय, और वहाँ से उसे देखे, उसे जाँचे, उसे परखे। लेकिन पैर थे कि जैसे जकड़ गये थे फर्श से, शरीर था कि बेबस हुआ जा रहा था।

"अम्मा ने पूछा है, चाचीजी, कि किसी चीज की जरूरत तो नहीं है ?"

"नहीं, बेटा, अभी तो किसी चीज की जरूरत नहीं है। सब इन्तजाम हो गया है। जब जरूरत होगी, तो कहूँगी। तुम्हीं लोगों के सहारे तो यहाँ आये हैं हम लोग।...बैठो।"

वह बैठ गया पास पड़ी चारपाई पर।

"रेखा, इनके लिये नाश्ता ले आ।"

"इसकी क्या जरूरत है, चाचीजी? नाश्ता कर चुका हूँ।"

"कोई हर्ज नहीं, थोड़ा-सा ही खा लेना। मैं तो तुम्हारे यहाँ एक-दो बार हो आई हूँ। लेकिन तुम हमारे घर आज पहली बार आये हो। बिना मुँह मीठा किये चले जाओगे, तो मुझे अफसोस होगा।"

"जैसी आपकी इच्छा।"

"ले आओ, बेटी। खड़ी क्यों हो?"

जी में जी आया। वह चली गई तेजी से उस कमरे की ओर। वहाँ पहुँचकर, उसने एक गहरी साँस ली। ऐसी क्या बात है उस युवक में, कि उसके सामने उसकी ऐसी दशा हो गई? शर्मीली वह अवश्य है, लेकिन ऐसी नहीं कि किसी अपरिचित के सामने हाथ-पाँव फूल जायँ। फिर क्यों हुई उसकी ऐसी दशा? जैसे एक मीनार पास आ कर खड़ी हो जाय, और देखने वाला अपनी ही नजर में बौना-सा बन जाय! मुस्कान खिल उठी होंठों पर। देर तक चित्रलिखित-सी दीवार के सहारे खड़ी रही।

"रेखा!" अम्मा ने आवाज लगाई।

"जी!"

"ले आओ जल्दी।"

"लाती हूँ।"

तब उस आलमारी के समीप जा कर, एक शीशे की तश्तरी में वह मिटाइयाँ और मेवे सजाने लगी।

तश्तरी लेकर निकली कमरे से, तो फिर सिहरन दौड़ने लगी शरीर में। यह भी कोई बात है।

तश्तरी रख दी सामने काँपते हाथ से, और एक ओर हट कर खड़ी हो गई।

"खाओ, बेटा," अम्मा ने कहा।

मोतीचूर का एक लड्डू उठा कर, वह खाने लगा संकोचपूर्वक। जरा-सा सिर घुमाकर, उसने देखा रेखा की ओर। विद्युत की एक लहर-सी जैसे छू गई रेखा को। शरीर सिहर उठा। एकाएक रुक कर, हृदय धड़कने लगा जोर से। यह क्या हो रहा है?

"पान बना लाओ, रेखा!"

"अच्छा," कहा धीरे से। और तुरन्त चली गई उसी कमरे की ओर लड़खड़ाती हुई-सी।

इस बार देर नहीं होने पाई। पान बनाये पूरी सावधानी से। चूना तो ज्यादा नहीं लग गया, कत्था तो अधिक नहीं? चिन्ता बनी रही।

पान की तश्तरी चारपाई पर एक ओर रख कर, चली गई अपने कमरे की ओर। वहाँ पहुँच कर, दीर्घ निःश्वास खींच कर, वह बैठ गई बिस्तरे पर अस्त-व्यस्त। बैठे रहना कठिन हो गया। उठ कर, दरवाजे के समीप जा कर, किवाड़ की आड़ से देखने लगी दालान का दृश्य। कोई इस तरह खड़ी देख ले, तो क्या कहे?...कौन आ रहा है देखने? कौतूहल? अपराध नहीं कौतूहल।

अम्मा ने जल दिया। जल पी कर, नाली के पास जा कर हाथ धोये, रूमाल से हाथ पोंछे, लौट कर चारपाई पर बैठ गया, पान खाये। थोड़ी देर तक अम्मा से बातें करता रहा। फिर विदा ले कर चला गया।

दीर्घ निःश्वास खींच कर, दरवाजे से हट कर, रेखा बिस्तर पर

अस्त-व्यस्त बैठ गई। लम्बा कद, गोरा रङ्ग, सुडौल शरीर, निर्दोष नख-शिख, वाणी मधुर, चाल में अजीब मस्ती। जैसे एक मीनार पास आकर खड़ी हो जाय, और देखने वाला अपनी ही नजर में बौना-सा बन जाय।

"रेखा!" अम्मा ने आवाज लगाई।

"जी!"

"वहाँ क्या कर रही हो? यहाँ आओ। अभी ढेरों काम पड़ा है।"

न जाने क्यों किसी के सामने जाने को, कुछ करने को जी नहीं चाह रहा था। उठ कर पहुँची दालान में अनिच्छापूर्वक।

"बाबूजी की किताबें सजा दो, बेटी।"

"अच्छा।" और उधर जा कर, वह काठ की सन्दूक से किताबें निकालने लगी।

"रेखा!"

"जी।"

"अभी जो लड़का आया था, उसे जानती हो?"

"नहीं।"

"वह रघुबीर बाबू का बड़ा लड़का है। नाम है सुशील कुमार। और सचमुच वह सुशील है, बड़ा सुशील है। कालेज में पढ़ता है।"

"जी।"

पुस्तकों का ढेर ले कर वह चली गई बाबूजी के कमरे की ओर। रघुबीर बाबू का बड़ा लड़का है, सुशील है, नाम भी सुशील है, कॉलेज में पढ़ता है। होगा। क्या करना है यहाँ? किन्तु...गोरा रङ्ग, लम्बा कद, निर्दोष नख-शिख। जैसे एक मीनार पास आकर खड़ी हो जाय, और देखने वाला अपनी ही नजर में बौना-सा बन जाय! मुस्कान फूट पड़ी होंठों पर।

दिन बीतते गये। दोनों घरों में नित्य का आना-जाना हो गया।

रेखा भी जाती। वह भी आता। प्रायः नित्य ही सम्पर्क होता दोनों का। शर्म अब न लगती, संकोच न होता। मीनार अब आँखों को न दहलाती। बौनी-सी अब वह न लगती अपनी नजर में उसके सामने। दूरी गायब हो चली। एकरसता आने लगी। खुल कर बातें होतीं। ऐसे मनोरंजक ढंग से वह बातें करता कि बस सुनते रहो, सुनते ही रहो। विनोदी भी था। अकसर ऐसी बात कह जाता कि वह ठहाका मार कर हँस पड़ती।

रङ्ग गाढ़ा हो चला।

तब एक दिन अम्मा ने कहा—"सुशील से ज्यादा हँसा-बोला न करो, बिटिया।"

सन्न रह गई। गड़-सी गई। बहुत-कुछ कह दिया अम्मा के शब्दों ने। ऐसी भोली, ऐसी नासमझ नहीं कि समझ न पाये अम्मा के वास्तविक अभिप्राय को। सिर झुका लिया। पैर के अँगूठे से फ़र्श कुरेदने लगी।

"बात यह है, बेटी, कि अब तुम सयानी हो गई हो," दो क्षण रुक कर, अम्मा ने फिर कहा—"इसलिये किसी मर्द से ज्यादा हँसना-बोलना अब तुम्हारे लिए उचित नहीं। बात चाहे कुछ भी न हो, लेकिन देखने वाले बुरा मतलब खोज ही निकालते हैं। किसी की कल्पना पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता। किसी की ज़बान कोई बंद नहीं कर सकता। नेकनामी मुश्किल से मिलती है, बदनामी बड़ी आसानी से हो जाती है। ऐसी ही है यह दुनिया। यहाँ फूँक-फूँक कर कदम रखना ही मुनासिब है।"

खड़ी रही मूक, मूर्तिवत।

"तुम्हें मैंने अपने पेट से जन्म दिया है। खूब अच्छी तरह जानती हूँ तुम्हें। पूरा विश्वास है मुझे तुम्हारे ऊपर। फिर भी सावधान ही रहना चाहिये तुम्हें।"

उसी तरह खड़ी रही चुपचाप, सिर झुकाये हुए।

"ठीक है न मेरी राय?"

"हाँ," कह दिया किसी तरह। और कहती ही क्या?

अम्मा लग गईं काम में। वह चली गई अपने कमरे की ओर, सिर झुकाये हुए, विचारों में डूबी हुई।

अपने कमरे में पहुँच कर, बैठ गई आरामकुर्सी पर अस्त-व्यस्त। जैसे एक बन्द दरवाजा खोल दिया हो अम्मा के शब्दों ने। कभी उसका ध्यान ही नहीं गया था उसकी ओर। 'बात चाहे कुछ भी न हो, लेकिन देखने वाले बुरा मतलब खोज ही निकालते हैं।' बुरा मतलब? क्या हो सकता है बुरा मतलब?.. ऐसी बात! छि:! जो न हो, उसका होना भी क्या मान लिया जा सकता है?...किन्तु बात क्या वास्तव में कुछ नहीं?... एक धक्का-सा लगा। सिहर उठी। विद्युत की तरह कौंध कर एक नूतन अनुभूति व्याप्त हो गई शरीर के कण-कण में। बन्द दरवाज़ा खुल गया एकाएक। राशि-राशि सौंदर्य बिखर पड़ा सामने। राशि-राशि माधुर्य बरसने लगा रिमझिम-रिमझिम भीतर, बाहर, चारों ओर। जैसे शराबोर हो गई उस रंग में, रस में।

किन्तु...किन्तु...नहीं! नहीं!

सत्य को अस्वीकार करने से क्या वह असत्य हो सकता है?

किन्तु अम्मा का वह आदेश?...सत्य पर परदा डालना ही होगा, उसे असत्य सिद्ध करना ही होगा संसार के सन्तोष के लिये, समाधान के लिये।...हो सकेगा उससे यह ढोंग? नहीं, नहीं। किन्तु...

विद्रोह फूट पड़ा अन्तर में। यह सब वह नहीं कर सकेगी। वह असम्भव प्रयास उसके लिये नहीं। संसार की सम्मति की उसे कोई परवाह नहीं, चिन्ता नहीं। अम्मा नाराज़ होंगी, तो। हुआ करें।...किसी से मिलने की, हँसने-बोलने की उसे साध नहीं। बुलाने वह न जायगी, किन्तु यदि कोई आयेगा आप-ही-आप उसके निकट, तो उसकी उपेक्षा करके अभद्रता का परिचय वह न दे सकेगी। यह उससे न होगा, न होगा। कोई चाहे कुछ कहे, चाहे कुछ करे, अपने अधिकार का परित्याग वह न करेगी, न करेगी।

...सारी बातें याद आती जा रही हैं। सारी घटनायें चलती जा रही हैं चल-चित्र की तरह।...

कई दिन से वह आता नहीं। एक अजीब बेचैनी बनी रहती है हर घड़ी। लगता है, एक रिक्तता आ गई है, एक अभाव आ गया है जीवन में। क्यों नहीं आता वह ? क्या अम्मा ने मना कर दिया ? लेकिन उसने तो मना नहीं किया, किसी तरह की अशिष्टता नहीं दिखाई। फिर क्यों नहीं आता वह ?

अगले दिन स्कूल में छुट्टी थी। दोपहर के समय सुशील की मँझली बहन, तारा, आई। तारा से खूब पटती थी। कुछ ऐसा था उसमें, जो आकर्षक लगता था। अम्मा से आज्ञा लेकर वह उसे अपने घर लिवा ले गई।

कुछ देर तक अपने कमरे में बैठने के बाद, तारा ने बाग़ में चलने का प्रस्ताव किया। दोनों निकलीं कमरे से।

ठीक इसी समय मोहनी सुशील के कमरे से हँसती हुई निकली। सुशील भी उसके पीछे हँसता आ रहा था।

रेखा अकचका गई। सुशील के होंठों की हँसी गायब हो गई।

ठिठक कर, गम्भीर हो कर, किंचित उखड़े स्वर में उसने कहा—"मजे में तो हो, रेखा ?"

"जी हाँ," धीरे से उत्तर दे दिया रेखा ने।

वह लौट गया अपने कमरे के अन्दर।

"क्यों, तारा, कहाँ रहीं अभी तक ? कब से तुम्हारा इन्तज़ार कर रही हूँ।"—मोहिनी मुस्कराकर बोली, और गर्दन मोड़कर उसने रेखा के चेहरे पर एक बिछलती दृष्टि फेंकी। हास्य और व्यंग्य की चमक थी उस दृष्टि में।

"ज़रा इनके घर चली गई थी," मोहनी का हाथ अपने हाथ में ले कर, तारा ने कहा।

"हूँ !...मजे में हो, रेखा ?"

"हाँ," अन्यमनस्क भाव से रेखा ने उत्तर दे दिया।

मोहनी तारा की एक सहपाठिनी है। बड़ी विचित्र है मोहिनी। रेखा कभी उसे पसन्द नहीं कर सकी। कुछ आज ही की बात नहीं जब कभी वह उसकी ओर देखती है, तो उसकी आँखों में हास्य और व्यंग्य चमक उठते हैं। क्या समझती है वह अपने को ? ऐसी कुछ रूपवती, गुणवती भी तो नहीं, कि गर्व से इतराती फिरे। एक साधारण-सी नवयुवती है। फिर भी उच्चता की भावना का चश्मा लगाये फिरती है, और हर एक को इस तरह देखती है, जैसे वह कोई निकृष्ट जीव हो। यह भी कोई बात है !

मोहनी निकली थी सुशील के कमरे से हँसती हुई ! और सुशील भी आ रहा था उसके पीछे-पीछे हँसता हुआ ! ये दोनों बातें जुड़ कर एक रहस्य की सृष्टि कर गईं। वह कौतुक से भर गई, और फिर कौतुक एक टीस बन कर रह गया।

'PP.\

बाग़ में पहुँच कर, तारा और मोहिनी लॉन पर बैठ कर, घुल-घुल कर बातें करने लगीं। रेखा खड़ी रही गुलाब की क्यारियों के समीप कुछ देर तक। न जाने एक कैसी व्याकुलता, एक कैसी बेचैनी भरी आ रही थी प्राणों में। ऐसा कुछ भरा जा रहा था वायुमण्डल में, कि स्वाभाविक रीति से साँस लेने में भी कठिनाई होने लगी थी। तब एकाएक चिहुँक कर, भाव-तन्द्रा से मुक्त होकर, उन दोनों के समीप जाकर, उसने कहा—"अब जाऊँगी, तारा।"

"अरे रुको, रेखा!" तारा ने जोर दे कर कहा—"ऐसी क्या जल्दी है ?"

"काम है।"

"फिर कर लेना काम।"

"नहीं। जाती हूँ।" और मुड़ कर, चल पड़ी फाटक की ओर।

घर पहुँचने पर भी मन उस रहस्य में उलझा ही रहा।

कितने ही दिन आये, और चले गये। मन में एक अजीब उदासी भर गई। सब-कुछ करती पूर्ववत, किन्तु मन न लगता किसी काम में।

एक दिन वह आया। कोई और दिन होता, तो यह जान कर उसका मन पुलक से भर जाता। किन्तु आज तो स्थिति ही कुछ और थी। सुशील के प्रति जो उदासीनता उसके हृदय में आ गई थी, वह आज पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।

उस समय वह पढ़ने का उपक्रम कर रही थी। वह कमरे में आया। रेखा अनभिज्ञ नहीं रही इस बात से। फिर भी उसके स्वागत की कोई तैयारी नहीं की।

"रेखा," समीप आकर वह बोला। सामने खुली पुस्तक के पृष्ठों पर दृष्टि जमाये, वह बैठी रही चुपचाप।

"क्या बात है, रेखा ?" व्यथित स्वर में उसने कहा।

किन्तु फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया उसने। सिर उठा कर देखा भी नहीं उसकी ओर।

दो क्षण वह खड़ा रहा निस्तब्ध, मूर्तिवत। फिर एक दीर्घ निःश्वास खींच कर, चला गया सिर झुकाये हुए।

चले गये हजरत ? जाने दो। बुलाया किसने था ? उसे साध नहीं किसी से मिलने की, हँसने-बोलने की। यह मुबारक रहे—मोहनी को ! उसे नहीं चाहिए यह सब।...यह कैसी बेचैनी भरी जा रही है जी में ? यह कैसी बौखलाहट आई जा रही है दिमाग में ?...

दिन बीतते गये। एक दिन तारा आई। रहस्य-भरी मुस्कान नाच रही थी उसके होंठों पर।

"एक बात कहूँ, रेखा ?" भेद-भरे स्वर में उसने कहा।

"कहो !"

"बुरा तो न मनोगी ?"

"बात बुरी न होगी, तो बुरा क्यों मानूँगी ?"

"बात बुरी तो नहीं है मेरी समझ में, लेकिन—"

"कहो न।"

"बड़े भैया...तुम से...प्रेम करते हैं !"

"हिश !...कैसी बात करती हो ?"

"बिलकुल सच कह रही हूँ।...क्या उन्होंने तुमसे कभी कुछ नहीं कहा ?"

"कभी नहीं !"

"न कहा होगा। लेकिन बात है यह सच।"

"सच हो या झूठ, मुझे इससे कोई मतलब नहीं।"

"यह देखो !" और तह किया हुआ एक नीला कागज उसने रेखा के हाथ में दे दिया।

खोल कर देखा रेखा ने। प्रकाश की किरणों की तरह झलमलाती हुई पंक्तियाँ बिखर पड़ीं आँखों के सामने। उसी के नाम था वह पत्र। लाज से गड़-सी गई। हृदय वेग से धड़कने लगा। दृष्टि काँपने लगी। हाथ थरथराने लगे। पत्र फेंक दिया तारा के सामने।

"अभी भैया के कमरे में एक किताब लेने गई थी। उनकी मेज पर खोज रही थी, कि एक पुस्तक के नीचे यह पत्र दबा दिखाई दिया। खोल कर देखा, तो बड़ा ताज्जुब हुआ। बस, भागी चली आई इसे लेकर तुम्हारे पास।"

रेखा बैठी रही चुपचाप सिर झुकाये हुए। उसकी ओर देख कर तारा ने कहा—"मेरी आशंका ठीक निकली। तुम्हें यह अच्छा नहीं लगा ?"

"यह ठीक नहीं।"

"क्या ठीक नहीं ? मेरी यह हरकत, या भैया का तुम्हारे प्रति वह भाव ?"

"दोनों ! पहली से अधिक दूसरी बात !"

"अगर वह तुम्हें चाहते हैं, तो इसमें बुराई क्या है, रेखा ? लँगड़े-लूले नहीं हैं, अनपढ़-गँवार नहीं हैं। मैं तो समझती हूँ, कि वह हर तरह तुम्हारे योग्य हैं।"

"यह बात अगर...लोगों को मालूम...हो जाय, तो मेरी कितनी बदनामी हो।"

"मालूम कैसे हो जायगी किसी को यह बात ?" तारा ने किंचित झुँझला कर कहा—"मैं तो किसी से इसका जिक्र करूँगी नहीं और भैया भी शायद किसी से कुछ न कहेंगे।" वह उठ कर जाने लगी।

दरवाजे के समीप वह पहुँची ही थी, कि रेखा ने आवाज दी—“तारा !”

रुक कर, मुड़ कर, तारा ने उसकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

“किसी से जिक्र न करना,” रेखा ने अनुरोध किया।

“नहीं, करूँगी। इतमीनान रखो।” वह चली गई तेजी से।

मन सन्तोष से भर गया। वह जो खटक आ उठी थी इधर जैसे दूर होने लगी।

दिन बीतते गये।

सुशील का वह पत्र उसे नहीं मिला। क्यों नहीं मिला उसे वह पत्र ? कदाचित क्षणिक थी सुशील की वह भावना।

इधर कई दिन से उसके विवाह की चर्चा हो रही है। कहीं बात-चीत हो रही है। अम्मा और बाबूजी उत्साह से भरे हुए हैं। किन्तु उसे नहीं है जरा भी उत्साह। उत्साह के बजाय विरोध ही उठ रहा है उसके मन में। किन्तु विरोध करने के लिये जिस साहस और आवेश की आवश्यकता है उसका न जाने क्यों अभाव है उसके अन्दर।

बात पक्की हो गई। प्रारम्भिक रस्में भी अदा हो गईं। विरोध नहीं किया उसने। एक विचित्र उदासीनता, विचित्र विरक्ति आ गई है मन में। किसी बात में रस नहीं, किसी बात में उत्साह नहीं।

दोपहर का समय था। बाबूजी दफ्तर गये हुए थे। अम्मा किसी रिश्तेदार के घर गई थीं। वह अकेली ही थी घर में। स्कूल में छुट्टी थी।

एकाएक सदर-दरवाजे की जंजीर खड़खड़ा उठी। कौन आया है ? देखना चाहिये। जा कर दरवाजा खोला उसने। चकित रह गई। सुशील सामने खड़ा था।

“मैं अन्दर आ सकता हूँ ?”

"आइये !" दे दिया उत्तर धीरे से ।

अन्दर आकर, दरवाजा बन्द कर लिया उसने ।

"चाची कहीं गई हैं न ?"

"हाँ !"

"कई दिनों से आना चाहता था । आज मौक़ा मिला !"

सिर झुकाये निस्तब्ध खड़ी रही वह ।

"रेखा !"

"जी !"

"मुझसे नाराज़ क्यों हो ?"

"नाराज़ तो...नहीं हूँ !"

"नाराज़ नहीं हो !...जो बात सत्य है, वह छिपाने से असत्य नहीं हो सकती !"

निस्तब्ध रही वह ।

"ख़ैर, कोई बात नहीं !" दीर्घ निःश्वास खींचकर उसने कहा—"उधर मैं यहाँ बराबर आता था । लेकिन एक दिन चाचीजी का रुख मुझे बदला दिखाई दिया । उनके व्यवहार में अवहेलना थी । मैं समझ गया कि मेरा यहाँ आना उन्हें अच्छा नहीं लगता । विचार करने पर कारण भी मेरी समझ में आ गया । मैंने आना बन्द कर दिया । फिर भी रहा नहीं गया, और बेशर्म बन कर मैं फिर आया एक बार । यहाँ आ कर अपनी मूर्खता की सजा मुझे मिल गई । तुम से भी अवहेलना ही मिली मुझे । मैं मानता हूँ, कि वह मेरी भूल थी । जहाँ अपना आना लोग न पसन्द करें, वहाँ आना सरासर भूल है ।"

आँसू छलक आये रेखा की आँखों में । चुपचाप खड़ी रही सिर झुकाये ।

"आज फिर आया हूँ यहाँ। क्यों?...इसलिए कि अब मैं तुम से वह बात कह देना चाहता हूँ, जो आज तक कभी कह नहीं सका। स्थिति अब बदल गई है। तुम्हारी शादी होने जा रही है, और अब तुम से वह बात कह देने में कोई हर्ज नहीं, क्योंकि तुम्हारे बहकने का अब वैसा डर नहीं है।...मैं यहाँ क्यों आता था? तुम्हें एक नज़र देखने के लिये, तुम से दो बातें करने के लिये। इससे अधिक कोई चाह नहीं थी। लेकिन उस दिन जब चाचीजी ने अवहेलना प्रकट की, और मैंने सोचा कि मुझे यहाँ न आना चाहिये, तो एकाएक मुझे अपने अन्दर अनुभव हुआ, कि और कुछ भी चाहता हूँ, बहुत-कुछ चाहता हूँ। जिस सत्य की ओर से मैं आँखें बन्द किये था, वह आखिर अपने पूरे तेज से प्रकट हो ही गया! किन्तु मैंने फिर उसकी अवहेलना की। दफ़न कर दिया अपनी चाहों को। अब मैं कुछ नहीं चाहता तुम से।...आज भी मैं न आता, किन्तु आये बिना रह नहीं सका। अपने मन की बात तुमसे न कहना अपने प्रति एक बहुत बड़ा अन्याय प्रतीत हुआ। और..."

आँसू गिरने लगे झर-झर रेखा की आँखों से।

"अरे! तुम रो क्यों रही हो?" विद्युत का धक्का-सा खा कर, वह ज़ोर से बोल पड़ा।

तब मन की सम्पूर्ण व्यथा लिये, भयानक आवेश से द्रवित हो, वह तेज़ी से आगे बढ़ी, और जमीन पर बैठ कर, उसके पैरों पर सिर रख दिया। चौंक कर, पैर पीछे हटा कर, झुक कर, उसे उठा कर, उसने हृदय से लगा लिया। व्यथा की उस घड़ी में भी सारा जग जैसे एकाएक देदीप्यमान हो उठा, अपार पुलक से भर गया।

उसे बाहु-पाश में बाँधे, उसकी पीठ पर धीरे-धीरे थपकियाँ देता,

वह खड़ा रहा दो क्षण। फिर उसे मुक्त कर, मुड़ कर, तेजी से आगे बढ़ कर, दरवाजा खोलकर, वह घर से बाहर हो गया।

दरवाजे के समीप जा कर, किवाड़ की आड़ से वह देखती रही उसे, जब तक वह दिखाई देता रहा। और फिर जब वह नजर से ओझल हो गया, तो दीर्घ निश्वास ले कर दरवाजा बन्द कर दिया, और अपने कमरे में जा कर बिस्तर पर गिर पड़ी।

दिन बीतते गये।...

शादी का दिन भी आया, और बीत गया।

आज बड़हार की दावत थी। घर जगमग-जगमग कर रहा था। खूब चहल-पहल थी। लाउड-स्पीकर वायुमण्डल में संगीत की सुमधुर लहरियाँ बिखेर कर अद्भुत समाँ बाँध रहे थे।

रात भीग चुकी थी। वस्त्राभूषणों से सजी हुई, रेखा अपने कमरे के सामने छत पर खोई-सी, ठगी-सी खड़ी थी। निर्मल, धवल ज्योत्स्ना बरस रही थी चारों ओर। निरन्तर होते-होते व्यथा भी अपनी तीव्रता, अपना तीखापन खो देती है, और एक कुन्द टीस-सी बन कर रह जाती है। वह उग्रता, वह तीव्रता अब नहीं थी मन की व्यथा में। एक कुन्द टीस बनकर रह गई थी वह। अब छूट जायगा यह घर, जहाँ जिन्दगी के इतने दिन बीते। और अब जाना होगा एक ऐसे के घर में जो सर्वथा अपरिचित है।

एकाएक सुशील मुस्कराता हुआ सामने आ खड़ा हुआ। पीड़ा कराह रही थी उसकी उस मुस्कान में।

"इस शुभ अवसर पर तुम्हें कुछ देना चाहिए, रेखा।" उसने कहा—"यह लो।" और एक सोने की सुन्दर अँगूठी और रेशमी रूमाल दे दिया उसके हाथ में।

"जो कुछ हो गया, सो हो गया। अब जो कुछ सामने आये, उसे चुपचाप स्वीकार कर लेने ही में भलाई है!"—कहते-कहते कंठ किंचित अवरुद्ध हो गया। वह घूम कर चला गया तेजी से।

दूसरे दिन मायके से विदा हो कर वह ससुराल आई।

और सुहाग-रात को शयन-कक्ष के निपट एकान्त में जब उस व्यक्ति ने जबरजस्ती उसे गोद में ले लिया, जो उसका स्वामी था, तो उसे अनुभव होने लगा, कि अपने पुरुषत्व के बल पर एक ऐसा व्यक्ति उसके साथ ज्यादतियाँ कर रहा है, जिसे वह नहीं जानना चाहती, जिससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं, और जिससे वह कोई सम्बन्ध कायम करना नहीं चाहती।

सारी बातें घूमती रहीं दिमाग में, सारी घटनायें चलती रहीं मानस-पट पर देर तक।...जो बीत गई, सो बीत गई। उसे याद करने से, उस पर विचार करने से कोई लाभ नहीं। फिर भी यादें हैं, कि आये बिना नहीं रहतीं, दिल है कि आहें भरे बिना नहीं रहता।...

यह जो दीपक अनायास ही जल उठा है मन-मन्दिर में, इसका दिव्य, पावन आलोक व्याप्त हो रहा है कण-कण में। जलता रहे यह दीपक! व्याप्त रहे इसका दिव्य, पावन आलोक कण-कण में!

आधी रात बीत चुकी है। निर्मल, धवल चाँदनी बरस रही है चारों ओर। शयन-कक्ष के सामने खुली छत पर वह खड़ी हुई है दीवार के सहारे खोई-सी, ठगी-सी। सोने की एक सुन्दर अँगूठी चमक रही है दाहिने हाथ की एक उँगली पर। और बायें हाथ में दबा हुआ एक रेशमी रूमाल लिपटा हुआ है सीने से। वह अँगूठी और रूमाल! ऐसी ही एक रात को जब चाँदनी बरस रही थी चारों ओर, कोई दे गया था दोनों अमूल्य चीजें। क्यों? इसलिये कि वह उसे चाहता था, प्यार करता था, और उसे अपनी कोई निशानी देना चाहता था। वह चाहता था

उसे। वह भी चाहती थी उसे। फिर भी दोनों एक न हो सके। जीवन की विडम्बना, नियति का क्रूर खेल।

और वह व्यक्ति शंकर जो उधर शयन-कक्ष में खर्राटे भर रहा है, उसके शरीर का स्वामी बन गया है। वकील है, वकालत करता है, धार्मिक प्रवृत्ति का जीव है, अवकाश के समय भजन-कीर्तन में मस्त रहता है, सीधा-सादा है। अवहेलना अब नहीं रह गई है उसके प्रति मन में। किंचित दया, किंचित सहानुभूति होने लगी है उसके प्रति। दोष उसका कुछ नहीं था। वह न होता, तो कोई और होता। एक न्यायशील व्यक्ति एक निर्दोष व्यक्ति को जान-बूझ कर दण्डित कैसे कर सकता है?

एक दीर्घ निःश्वास खींच कर, वह लौट आई शयन-कक्ष में, और लेट गई अपनी पलँग पर अस्त-व्यस्त।

अगले दिन संध्या के समय जब फिर आई सखी अचला, तो उसने सब कह डाला उससे, सब कह डाला। आँसू की दो बूँदें टपक पड़ीं अचला की आँखों से। रेखा के गले में बाँह डाल कर, उसने कहा—"दुख न करो, सखी।...जिसने तुम्हें यह दर्द दिया है, वही एक-न-एक दिन इसकी दवा भी देगा!"

दिन बीतते गये।...

रेखा मायके आई है। कुछ दुबली हो गई है। कुछ पीली भी पड़ गई है। अम्मा कारण पूछती हैं। किन्तु कारण वह स्वयं नहीं जानती। कोई खास तकलीफ मालूम नहीं होती। बस, थोड़ी कमजोरी महसूस होती है।

एक विचित्र बात है। जब तक ससुराल में रहती है, तब तक ऐसा अनुभव होता है जैसे जेल में पड़ी हो। यह बात नहीं कि वहाँ ढेरों काम करना पड़ता हो, या कड़े प्रतिबन्ध हों। फिर भी जेल-सी ही लगती है

ससुराल। यहाँ मायके में किंचित स्वतंत्रता का आभास मिलता है। यहाँ दम घुटता-सा नहीं लगता। अपने कमरे के सुखद एकान्त में बिस्तर पर लेट कर विचारों में खो जाती है, तो सब-कुछ भूल जाती है और बचपन जैसे फिर लौट आता है। बचपन, प्यारा बचपन! जवानी की रंगीन दुनिया हेच है बचपन के जादू-भरे जग के सामने!

दिल में जो दर्द आ बसा है, वह ज्यों का त्यों बना है। उसके दूर होने की, कम होने की कोई आशा नहीं।

एक दिन तारा मिलने आई।

"अरे, रेखा," उसे देखते ही तारा ने कहा—"तुम दुबली क्यों हो गई हो, पीली क्यों पड़ गई हो? क्या ससुराल में खाना नहीं मिलता था?"

वह हँस कर रह गई।

दोनों बैठ गईं बिस्तर पर। दो क्षण मौन रह कर, दीर्घ निःश्वास खींच कर, तारा ने कहा—"बड़े भैया की तबीयत भी आजकल ठीक नहीं रहती।"

"क्या हुआ है उन्हें?"

"सुस्त दिखाई पड़ते हैं। अधिकतर अपने कमरे ही में पड़े रहते हैं। कभी-कभी ज्वर हो आता है।"

अन्दर एक तीखी टीस उठी। नेत्र सजल हो गये।

"रेखा!"

"हाँ!"

"अकसर मेरे मन में एक ख्याल उठता है।"

"क्या?"

"अगर वह बात वहीं खत्म न हो जाती, तो बड़ा अच्छा होता। तुम्हें भाभी के रूप में देख कर मुझे बेहद खुशी होती।"

आँसू की दो बूँदें ढुलक पड़ीं आँखों से। मुँह फेर कर पोंछ लिये आँसू।

निस्तब्धता रही थोड़ी देर तक।

"रेखा!"

"हाँ!"

"जरा मेरे घर चलोगी?"

"क्यों?"

"यों ही।...मैं सोचती हूँ कि तुम जरा भैया से मिल लो, तो बड़ा अच्छा हो!"

"ठीक होगा यह?"

"बुराई क्या है इसमें?"

मौन रही रेखा।

"मोहनी के घर वाले चाहते हैं कि भैया उससे ब्याह कर लें। लेकिन भैया राजी नहीं हो रहे हैं। जरा तुम चल कर सिफारिश कर दो। मुमकिन है, तुम्हारी बात का असर पड़े, और वह मान जायँ।... चलोगी?"

"तुम कहती हो, तो चली चलूँगी।"

"हाँ, चली चलो जरा!"

दोनों उठ कर नीचे गईं। तारा ने अम्मा से आज्ञा माँग ली।

वे घर से बाहर निकलीं।...

धीरे से दरवाजा खोल कर रेखा ने सुशील के कमरे में प्रवेश किया।

वह बिस्तर पर पड़ा विचारों में उलझा था। रेखा को देख कर, चौंक कर उठ बैठा।

"अरे, रेखा!"

"जी।"

"कैसे आ गईं?"

"यों ही। क्या आने की इजाजत नहीं थी?"

"अरे, नहीं-नहीं, यह बात नहीं। आओ, आओ!"

समीप पहुँच कर वह खड़ी हो गई।

"बैठो।"

"आपकी तबीयत कैसी है?" एक कुरसी पर बैठ कर, क्षण भर मौन रह कर, रेखा ने कहा।

"तबीयत!...अच्छी ही है तबीयत।"

"अच्छी तो नहीं मालूम होती।"

"नहीं-नहीं, कोई खास बात नहीं।"

दीर्घ निःश्वास ले कर, क्षण भर चुप रह कर, रेखा ने कहा—"आप से एक बात कहने आई हूँ।"

"बात!...कैसी बात?...कहो न।"

"शादी कर लीजिये—मोहनी से।"

ठहाका मारकर हँस पड़ा वह। व्यथा का क्रन्दन था उस हास में।

"शादी!...असम्भव! शादी करने का कतई इरादा नहीं है।...निश्चय कर चुका हूँ, कि शादी नहीं करूँगा, कभी नहीं करूँगा।" मनोवेदना की रेखायें खिंच गईं उसके चेहरे पर।

"जो बीत गयी, सो बीत गयी। अब उसकी बात सोच कर दुखी होने से कोई लाभ नहीं।"

"यही बात मेरे मन में भी उठती है। फिर भी...खैर। यह एक कमजोरी है। दूर हो जायगी धीरे-धीरे।"

"ब्याह से शक्ति मिलेगी इस कार्य के लिये।"

"शक्ति!...मैं बाहरी शक्ति में विश्वास नहीं करता। अपार शक्ति अपने अन्दर भी भरी होती है। वह दबी रह सकती है, सोई रह सकती है, किन्तु मर नहीं सकती। और विबाह ?...विवाह करके गृहस्थी जुटाने के अतिरिक्त भी अनेक महत्वपूर्ण काम हैं।...शीघ्र ही शक्ति जाग्रत करके लग जाऊँगा किसी काम में।"

निस्तब्धता रही थोड़ी देर तक। रेखा उठ कर खड़ी हुई जाने के लिये।

एकाएक गहरे आवेश से भर कर, वह तेजी से बिस्तर से उतर पड़ा।...किन्तु पीड़ित शरीर की सम्पूर्ण शक्ति लगा कर सँभल गया वह। दाँत जकड़ लिये, मुट्ठियाँ कस लीं। रगें उभर आईं मस्तक पर।...तूफान निकल गया। शिथिल हो गया वह।

"जा रही हो, रेखा ?"

"जी।"

"जो बात तुम मुझसे कह चुकी हो, वही मैं भी तुम से कहना चाहता हूँ।...जो बीत गयी, उसकी बात सोच कर दुखी होने से कोई लाभ नहीं। जो सामने है, वही सही। उसे अपना लेने ही में तुम्हारा कल्याण है।...स्वास्थ्य का ध्यान रक्खो, प्रसन्न रहने की कोशिश करो।"

हाथ जोड़े रेखा ने, और शीघ्रता से निकल गई कमरे से। आँसुओं की बाढ़ से धुँधली हो रही थीं आँखें।...

रेखा ससुराल लौट आई है। असाधारण चहल-पहल है घर में।

एक महात्मा आ कर ठहरे हुये हैं। अत्यन्त तेजस्वी स्वरूप है। वृद्ध

हैं, किन्तु युवकों की-सी स्फूर्ति भरी है सुन्दर, सुगठित शरीर में। कहते हैं कि बड़े पहुँचे हुए सन्यासी हैं। सारा घर उनकी सेवा में लगा रहता है। पति के आदेशानुसार रेखा भी करती है उनकी सेवा। साधु-भक्त वह नहीं। धर्म के प्रति कुछ विशेष अनुराग भी उसे नहीं। फिर भी वह करती है, जो उसे करना चाहिये।

दिन का तीसरा पहर था। घर की वाटिका में एक छतनार वृक्ष के नीचे रेखा बैठी थी मनमारे। जी उचट रहा था। कुछ अच्छा नहीं लग रहा था।

एकाएक स्वामीजी को सामने खड़े देख अकचका गई वह। उठ कर खड़ी हो गई शीघ्रतापूर्वक।

"तेरे मन में जो पीड़ा है, बेटी," स्वामीजी ने मृदु स्वर में कहा—"उसका आभास मुझे मिला है। पीड़ित मानव की सेवा करना मेरा धर्म है। अपने उसी सेवा-भाव से प्रेरित हो कर इस समय तेरे सामने आया हूँ, कि शायद तेरी भी कुछ सेवा मुझ से बन पड़े।...जीवन क्षण-भंगुर है। यह विराट विश्व और इसकी समस्त विभूतियाँ, समस्त निधियाँ भी अस्थायी हैं। इनसे अपनापा स्थापित करने से दुख के सिवाय, पीड़ा के सिवाय कुछ मिल नहीं सकता। इस कर्मक्षेत्र में पूर्णत: निर्लिप्त भाव से रहने में ही, कार्य करने में ही, प्राणि-मात्र का कल्याण निहित है।...एक ऐसी सत्ता भी है, जो अखिल ब्रह्माण्ड का उद्गम है, जो अविनाशी है, अक्षय है, दिव्य है, परम पावन है। उस अविनाशी सत्ता से ही अपनापा जोड़ना चाहिये मानव को।...मानव की प्रीति त्याग दो, बेटी। अविनाशी से अपनापा जोड़ो, प्रीति करो।"

भावावेग से विह्वल हो रेखा गिर पड़ी महात्मा के चरणों पर। आँसू बरसने लगे आँखों से।

स्वामीजी झुक कर उसके सिर पर, पीठ पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरने लगे। शान्ति की लहरें दौड़ने लगीं रेखा के प्रताड़ित हृदय में, मस्तिष्क में, कण-कण में।

किनारा मिल गया डूबते को। अवलम्ब मिल गया रेखा के निरीह जीवन को।

बादल

आषाढ़ बीत चला है, लेकिन आकाश से जल की एक बूँद भी गिर नहीं रही है।

पूजा-पाठ, टोना-टोटका, सब-कुछ हो रहा है। रामदीन की चौपाल में रोज रात को कीर्तन होता है। रात्रि के निस्तब्ध वातावरण में ढोलक, झाँझ और करताल के साथ 'हरे राम, हरे कृष्ण' की ध्वनियाँ घंटों गूँजती रहती हैं। स्त्रियाँ देवी-देवताओं की मनौतियाँ मान रही हैं। लड़के छोटी-छोटी टोलियाँ बनाये, दरवाजों पर जा-जाकर, धरती पर लोट-लोटकर 'काले मेघा पानी दे' की रट लगा रहे हैं। आवाज सुन कर, लोग पानी लेकर, घरों के अन्दर से निकलते हैं, और धरती पर लोटते हुए लड़कों पर डाल देते हैं। लड़के कीचड़ में लोटते जाते हैं, और रट लगाते जाते हैं—'काले मेघा पानी दे।' सब-कुछ हो रहा है—सब-कुछ किया जा रहा है। लेकिन काले

मेघ हैं, कि पानी देने को कौन कहे, आने का भी नाम तक नहीं लेते।

"क्यों, काका," सुखई ने उदास स्वर में कहा—"क्या सूखा ही पड़ेगा इस साल ?"

हुक्के का एक कश खींच कर, धुएँ का सुरसुरा फेंक कर, जियावन ने कहा—"जी छोटा न करो, बेटा। भगवान की दया होगी, तो सब अच्छा ही होगा।"

पर जियावन भगत जैसी आस्था सुखई में कहाँ से आये ? उसने वैसे ही स्वर में कहा—"भगवान तो जैसे सो रहे हैं, कान में तेल डाले। इतना सब हो रहा है, लेकिन उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती।"

सुखई की दलील सुन कर, जियावन क्षण भर के लिए सोच में पड़ गया। फिर उसने आशावादिता के स्वर में कहा—"कहीं इतना निराश होते हैं भला ? भगवान बड़ा दयालु है, बेटा। वह हमारी पुकार जरूर सुनेगा।"

सुखई की निराशा अब भी दूर नहीं हुई। बोला—"देर भी कितनी हो गयी। अब बरसेगा भी, तो हफ्ते, डेढ़ हफ्ते में जमीन तर होगी। तब कहीं जुताई हो सकेगी।"

हुक्के से चिलम उतार कर सुखई को देते हुए, जियावन ने कहा—"उसकी दया होगी, तो इतना पानी बरसेगा कि एक ही दिन में वज्र-सी धरती मक्खन-सी मुलायम बन जायेगी। 'जब तक साँसा, तब तक आसा!' हम अपनी आशा क्यों छोड़ें, ? भगवान में विश्वास त्याग कर आकबत क्यों बिगाड़ें ?"

जियावन की बात सच निकली। भक्तों की कातर पुकार से इन्द्रासन

डोल गया, और उस दिन सवेरे ही शोख पुरवाई हठपूर्वक रोक रखे गये आवेग-सी अवसर पा उन्मत्त कुलाँचे भरने लगी।

सुखई दौड़ा-दौड़ा जियावन के पास आया, और प्रसन्नता-भरे स्वर में बोला—"आज तो रंग अच्छा है, काका।"

"बहुत अच्छा रंग है, बेटा," जियावन ने अपनी आस्था की विजय पर पुलकित होकर कहा—"अब पानी बरसेगा, जरूर बरसेगा। 'भुइयाँ लोट बहे पुरवाई, तब जानो बरखा ऋतु आई।"

और, उस शाम 'बरखा ऋतु' सचमुच अपने सौन्दर्य का पूरा निखार लिये धरती पर उतर आयी।

प्यासी धरती की तरह सुखई भी वर्षा की झड़ियों को सस्नेह झेलता हुआ, तर-ब-तर अपने घर पहुँचा, और दरवाजे पर अल्हड़ बालक-सा चिल्लाता हुआ अपनी पत्नी से बोला कहा—"बर्खा आ गयी, रे, बर्खा आ गयी!"

"अब अन्दर आओगे, या बर्खा-बर्खा की रट ही लगाये जाओगे?" दुलिया ने प्यार-भरी डाँट लगाई—"बाप रे बाप! कितने जोर का पानी बरस रहा है, और ये मजे से बाहर खड़े भीग रहे हैं।"

जोर का कहकहा लगाकर, सुखई ने घर के अन्दर प्रवेश किया। लग रहा था, जैसे उसका रोम-रोम हँस रहा हो।

"आज तो जी चाहता है, रे, कि पानी इसी तरह बरसता रहे, और मैं नहाता चला जाऊँ, नहाता चला जाऊँ।"

"चाहे बीमार ही पड़ जाऊँ!" दुलिया की आँखों में स्नेह और स्वर में स्निग्ध व्यंग्य था।

"हाँ-हाँ, चाहे बीमार ही पड़ जाऊँ! चल, तुझे भी नहलाऊँ।" कहकर, सुखई न लपक कर दुलिया को अपनी ओर खींच लिया।...

सावन जवानी पर है। चारों तरफ हरियाली-ही-हरियाली है। खेतों में अनाज के पौधे हाथ-हाथ भर के हो गये हैं। देखने वालों की आँखें तर हो जाती हैं। आम के बागों में झूले पड़ गये हैं। कजली, बारहमासी और लावनी की स्वर-लहरियों से सारा वातावरण विमुग्ध है।

हवा की लहरों पर मस्ती थिरक रही है। सुखई के हृदय में हर्ष की उमंगें हिलोरें ले रही हैं। खेतों की मनोरम हरियाली देखते-देखते उसके कानों में नारी-कंठों से निकला सुमधुर कजरी गीत गूँज उठा—

'बरसे—बरसे कारी बदरिया,
पिया बिन मोहीं न सुहाय।...'

उसकी आँखों के सामने दुलिया का चित्र नाच उठा। पंकिल मेंड़ों को लाँघता, वह घर की ओर चल पड़ा। घर पहुँच कर, दुलिया को बाँहों में समेट कर, उसने कहा—"पौधे ऐसे उगे हैं, रे, कि खेतों में अँगुल भर भी जगह खाली नहीं हैं। ऐसी फसल होगी, कि घर अनाज से पट जायगा।"

"भगवान करें, ऐसा ही हो!" दुलिया ने मुस्कराते हुए कहा—"किसान का घर अनाज से पट न गया, तो कुछ न हुआ!"

सावन तो सुख की लहलहाती कल्पना में बीता, पर भादों के आरम्भ में ही उस पर पाला पड़ने लगा। आषाढ़ के अन्त में इन्द्रदेव की जिस कृपा-दृष्टि का आसरा लगा था, वही कृपा-दृष्टि अब अभिशाप-वर्षा-सी असह्य हो उठी। चार दिनों तक लगातार मूसलाधार पानी बरसता रहा। चारों ओर पानी-ही-पानी नजर आ रहा था। चौथे दिन वर्षा का वेग कुछ थमा, तो पता चला कि बिन्दुमती नदी हहराती हुई गाँव को लीलने चली आ रही है। वह पतली-सी नदी जब अपने प्रकृत रूप में

रहती है, तो लगता है कि उस में बहाव भी नहीं है, पर जब बाढ़ में उम-गती है, तो गाँव-के-गाँव अपने तूफानी आवेश में दबोच लेती है। खेत डूब गये। झोपड़ियाँ बह गयीं, और जब घरों की शामत आयेगी। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही है। अपना-अपना बचाव करने और बचे-खुचे अनाज आदि को सुरक्षित करने में सभी व्यस्त हैं।

सुखई और दुलिया भी बाहर पड़े गेहूँ और अरहर को कोठलों में भरने लगे। सुखई अरहर से भरा टोकरा उठा कर सिर पर रख ही रहा था, कि दुलिया की दर्द-भरी चीख सुनायी दी—"हाय रे! डस लिया हत्यारे ने। दौड़ो-दौड़ो।"

अन्न से भरा टोकरा सुखई के हाथ से छूट कर, धम-से जमीन पर गिर पड़ा। वह तुरन्त भाग कर उस कोठरी में पहुँचा। देखा—दुलिया पैर पकड़े हुए जमीन पर बैठी हाय-हाय कर रही है। गेहूँ से भरा टोकरा बगल में रक्खा है, और एक काला भयानक विषधर रेंगता हुआ, उधर एक बिल की ओर चला जा रहा है। साँप को देख कर किसान को तुरन्त लाठी की याद आ जाती है, लेकिन रोगिणी का उपचार अधिक आवश्यक था। कमर से धोती का फेंटा खोल कर, वह धोती फाड़ने ही जा रहा था, कि दुलिया ने कराह कर कहा—"क्यों धोती फाड़े डाल रहे हो? सिर पर अँगौछा तो बँधा है।"

सिर से अँगौछे की 'गुड़ली' उतार कर, उसने अँगौछा दुलिया के दंशित स्थान के ऊपर कस कर बाँध दिया। फिर वह उसे गोद में उठा कर दालान में ले आया, और खाट पर लिटा दिया।

"हाय, राम!" दुलिया ने आँसू बहाते हुये, व्यथित स्वर में कहा—"जाने कब का बदला लिया पापी ने। अब मैं न बचूँगी।"

दिल में एक हूक-सी उठी, और सुखई का गला भर आया। रुँधे कंठ

से बोला—"घबरा मत, रानी, मैं तुझे मरने न दूँगा। अभी मतई को बुलाये लाता हूँ। वह झाड़ने में बड़ा होशियार है। दूर-दूर के गाँवों से उसके पास बुलावा आता है। बस, धीरज धरे चुपचाप पड़ी रह। मैं अभी आता हूँ।" और वह तेजी से घर के बाहर निकल गया।

सुखई जब लोगों को लेकर वापस आया, तो दुलिया बेहोश पड़ी थी।

झाड़-फूँक शुरू हुई। जड़ी पीस कर पिलायी गयी। पचासों घड़े जल से दुलिया को नहलाया गया। तरह-तरह का उपचार होता रहा। लेकिन कोई नतीजा न हुआ। आधी-रात होते-होते दुलिया ने दम तोड़ दिया।

वज्रपात हुआ बेचारे सुखई पर। उसने सिर पीट लिया। निर्बोध बच्चे की तरह बिलख-बिलख कर रोने लगा।

"चुप रहो, बेटा," जियावन ने कहा—"धीरज धरो। भगवान् की यही मर्जी थी।"

सारा वातावरण मानो चीख रहा है। सुखई को लगा, जैसे सैकड़ों भूत, सैकड़ों पिशाच भीड़ लगाये हँस रहे हों घर के कोने-कोने में। किन्तु सुखई को अब भय नहीं किसी चीज की, चिन्ता नहीं किसी चीज की वह बैठा है निश्चल, मूर्तिवत्।

इतने में मतई ने घर में प्रवेश किया। असीम सहानुभूति से सुखई के कंधे पर हाथ रख कर बोला—"सुखई!"

सहानुभूति का सहारा पाकर, टीसता हुआ दर्द उभर आया।

"इस तरह जी छोटा नहीं करते, भैया," मित्र सुखई की पीठ सहलाते हुए, मतई ने कहा—"मर्द मुसीबत का सामना मर्दानगी से करता है। तुम मर्द बच्चे हो। तुम्हें दुख से इतना कातर होन शोभा नहीं देता।"

"क्या करूँ, भैया ?" रुलाई-भरे कंठ से सुखई बोला—"दिल जैसे बैठा जा रहा है। अन्दर जैसे आग लगी हुई है, और सब-कुछ जैसे उस में भस्म हुआ जा रहा है।"

"मैं समझ रहा हूँ, भैया, समझ रहा हूँ," मतई ने कहा—"तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ी 'बिपत' पड़ गई है। लेकिन अब किया क्या जा सकता है ? हम सब-कुछ करके हार गये। भयानक-से-भयानक साँपों का 'बिख' मैंने झाड़ कर उतारा है। कितनों को मैंने झाड़ कर चंगा किया है। लेकिन आज मेरा भी बस नहीं चला। इस बात का मुझे कितना दुख है, यह मेरा दिल ही जानता है। चली गयी बेचारी दूला भौजी। हम उसे बचा नहीं सके। सब्र करो, कलेजे पर पत्थर रख लो। यह दूसरी मुसीबत जो सामने खड़ी है, इसका मुकाबला करो। पानी भरा चाहता है घर में। न जाने घर कब बैठ जाये। उठो, चलो यहाँ से। अपने को बचाओ। जान है, तो जहान है।"

"नहीं, भैया, मैं कहीं न जाऊँगा। अपनी जान बचा कर मैं क्या करूँगा ?"

"मर्द हो कर ऐसी बात करते हो ? उठो, चलो। मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता।" और वह हाथ पकड़ कर, सुखई को खींचने लगा।

विवश सुखई मित्र का सहारा लिये हुये, धीरे-धीरे घर से बाहर चला।...

शहर की सीमा पर बाढ़-पीड़ितों का शिविर लगा हुआ है। सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाएँ उनकी देख-रेख कर रही हैं।

शिविर के तत्वावधान में सभा हुई, बाढ़-पीड़ितों से सहानुभूति प्रकट करने के लिए। जनता आयी यथेष्ट संख्या में। विभिन्न दलों के नेता आये। धुआँधार भाषण हुए।

एक युवा वक्ता ने कहा—"मनुष्य और प्रकृति के बीच हमेशा-हमेशा से संघर्ष चलता आ रहा है। प्रकृति की अंधी शक्तियाँ जब चलती हैं, तो तबाही और बर्बादी के भयानक दृश्य उपस्थित कर देती हैं। लेकिन मनुष्य ने प्रकृति के सामने कभी हथियार नहीं डाले। मनुष्य हमेशा प्रकृति से लड़ता रहा है, और हमेशा लड़ता रहेगा।..."

और भी बहुत-कुछ कहा उसने। कुछ समझ में आया, कुछ नहीं आया ग्रामीणों के। लेकिन प्रकृति और मनुष्य के चिरन्तन संघर्ष की बात जम कर रह गयी उनके मन में। क्या वे हार मान लेंगे प्रकृति से? नहीं, कभी नहीं।...

शीतकाल अपने यौवन पर है। बाढ़-पीड़ित क्षेत्रों में चारों ओर हरे-भरे खेत, रंग-बिरंगे फूलों से लदे, लहलहा रहे हैं। मालूम नहीं होता, कि अभी कुछ समय पहले यहाँ बाढ़ आयी थी। गृह-निर्माण का कार्य भी चल रहा है। बिन्दुमती के किनारे-किनारे किसान अपने श्रम से बाँध भी बना रहे हैं। सुखई इन स्वयंसेवकों का नेता है।

वैशाख लग गया है। खेत कट गये हैं। बहुत अच्छी फसल हुई है। इतना गल्ला पैदा हुआ है, जितना इधर वर्षों से कभी पैदा नहीं हुआ।

सुखई ने अपना अधिकांश गल्ला खलिहान में ही बेच दिया है। बाकी गल्ला घर लाया है। घर में जगह-जगह गल्ले के ढेर लगे हुए हैं। देखता है, तो खुशी से छाती फूल उठती है। लेकिन तुरन्त ही दुलिया की सुघर, सलोनी मूर्ति आँखों में नाच उठती है। और दिल भर आता है। आँखें सजल हो जाती हैं।

हुक्के का कश खींचकर, धुएँ का सुरसुरा फेंक कर, मतई ने कहा—

"'बिन घरनी घर भूत का डेरा।' मेरा कहना मानो, सुखई, घर फिर बसा लो।"

मन में एक हूक-सी उठी। आँखें भर आयीं। सिर झुका लिया सुखई ने।

"बड़ी बाँकी छोकरिया है एक—सुन्दर, मेहनती, हँसमुख," मतई ने कहा—"देखोगे उसे, तो दूला भौजी को भूल जाओगे। कहो, तो बात चलाऊँ।"

कुछ कह न सका सुखई। दिल का घाव हरा हो रहा था।

"सोच लो, भैया। कोई जल्दी नहीं है।" और उठ कर, चला गया मतई।

दीर्घ निःश्वास खींच कर, हुक्का हाथ में लिये, सुखई उठ कर घर के अन्दर गया। कितना सूना-सूना लग रहा है घर। घर है, लेकिन घरनी नहीं है। क्या—

सारी रात जागता रहा सुखई, सारी रात सोचता रहा।

और दूसरे दिन बातों-बातों में उसने कह दिया मतई से—"तुम्हारी सलाह ठीक है, भैया। मैं राजी हूँ।"

● ● ●

अन्तर्द्वन्द्व

अनुकूल ! पागल अनुकूल ! जो चाहो, वह नहीं होता; जो न चाहो, वह होकर रहता है। कुछ ऐसा है ही, कि ऐसा ही होता है। पागल ही तो कहा जायगा इस कठोर सत्य की ओर से मुख मोड़ने वाले को।

मन से मन का नाता-रिश्ता मन में रखने की चीज है। उसे कुरेद कर बाहर निकालना आँधी-बवंडर को निमंत्रण देना है। यह जानती है सरोज, और व्यवहार भी उसका रहा है इसी के अनुरूप। किन्तु उस दिन संध्या के झुटपुटे में गाँव के पोखरे के किनारे आम्र-वृक्ष की सघन छाया में जब उसका हाथ अपने हाथों में लेकर, अनुकूल ने कहा था—"मेरी बन सकोगी, सरोज ?" तो वह धन्य हो गई थी। चारों ओर उस समय जैसे वसंत-श्री फूट पड़ी थी, दिक-दिगंत में मधुर-मृदु, मन्द हास गुञ्जरित हो उठा था, मन-मयूर ठुमुक-ठुमुक कर नाचने लगा था। किन्तु दूसरे ही

क्षण मन आशंका से काँप उठा था। लगा था कि हो न सकेगा यह।

अनुकूल! देव-सा रूप, मधु-रस-सी वाणी, जल-फुहार-सा हास, सुशील, विनोदप्रिय, परमार्थशील—सब-कुछ वांछनीय, सराहनीय। किन्तु वह आशंका? गरजते काले बादलों के बीच लुका-छिपा कुछ भयंकर।

"बोलो, सरोज!" स्वर में अपार अनुनय भर कर विनय किया था अनुकूल ने।

सिहर कर, लाज से सिमट कर रह गई थी वह।

"तो क्या मेरा यह प्रस्ताव अनुचित है, सरोज?" शंकित हो कर कहा था अनुकूल ने।

"नहीं, यह बात नहीं। किन्तु—" विवश होकर तब भ्रम का निराकरण किया था उसने।

"किन्तु?"

"ऐसा हो न सकेगा शायद।"

"नहीं, सरोज, सब-कुछ हो सकता है इस दुनिया में, यदि प्रयास की कमी न हो!" दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया था अनुकूल ने।

और उसने माना था, कि उस प्रतिवाद में शक्ति है, साहस है, अविचलता है।

और तब मुस्कराकर, सिर झुका कर, उसने आवाहन किया था उस शक्ति का, साहस का, अविचलता का, और खिंची चली गई थी उसके बाहु-पाश में मदहोश-सी हो कर।...

सुन्दर, रंगीन सपनों के ताने-बाने बहुत दिनों तक नहीं बुन पाये थे वे दोनों।

उसके मन की वह आशंका सत्य बन कर प्रकट हो गई थी उसके सामने कुछ दिनों के बाद, जब—

"सुनती हो, सरोज की मा ?" बाहर से आकर कहा था उसके पिता ने।

"क्या है ? कहो।"

"नितिन कह रहा था, कि अनुकूल के साथ सरोज का ब्याह कर दो !" और वह ठहाका मारकर हँस पड़े थे।

कितना गम्भीर, कितना भयानक लगा था वह ठहाका !

"क्या जवाब दिया तुमने ?"

"वही जो देना चाहिए था। कह दिया कि ऐसा नहीं हो सकता, हर्गिज नहीं हो सकता !"

"कुछ बुरा तो नहीं कहा नितिन ने।"

"बुरा नहीं कहा ! खूब ! यानी तुम्हारी बुद्धि भी चरने चली गई ?"

"आखिर क्या खराबी है इस सम्बन्ध में ? अनुकूल कितना अच्छा लड़का है ! सारा गाँव उसकी सराहना करता है।"

"वह सर्व-गुण-सम्पन्न सही, सराहना के योग्य सही। लेकिन वह कंगाल है।"

"कंगाल ! ..और तुम ?"

"मैं कंगाल सही, लेकिन मेरा दिल कंगाल नहीं, मेरी बुद्धि कंगाल नहीं, मेरा दिमाग कंगाल नहीं।...नहीं, तिमिर घोष किसी कंगाल को अपनी बेटी नहीं दे सकता।...मेरी राजरानी-सी बेटी किसी राजमहल की शोभा बढ़ायेगी !"

तब प्रसन्न होकर, हँस कर, कहा था मा ने—"पकाया करो खयाली पुलाव।"

"खयाली पुलाव पकाते-पकाते कभी-कभी सचमुच का पुलाव भी पक जाता है, सरोज की मा।"

"निठल्ले दोस्तों के बीच बैठ कर, चरस के लप्पे मार-मार कर कोई महल खड़ा कर सके, तो दुनिया में कोई कंगाल क्यों रह जाय ?...जब देखो, बे-सिर-पैर की हाँका करते हो। लड़की सयानी हो गई, लेकिन कान पर जूँ तक नहीं रेंग रही है। खुद कुछ करने-धरने से रहे। घर बैठे अच्छा लड़का मिल रहा है, तो उसे दुत्कार रहे हैं।"

"मैं निठल्ला सही, बेकार सही, लप्पे मारने वाला सही, लेकिन मैं अपनी बेटी किसी कंगाल को नहीं दे सकता, नहीं दे सकता, नहीं दे सकता !"

"करो, बाबा, जो जी में आये तुम्हारे।"

और इसी तरह बक-झक चलती रही दोनों की काफी देर तक।

गहरी साँस खींचकर, किवाड़ की आड़ से हट कर, वह आ बैठी थी अपनी चारपाई पर अस्त-व्यस्त। सिर चक्कर खा रहा था। सब-कुछ जैसे हिल रहा था, घूम रहा था। और तब बेचैनी-सी महसूस हुई थी, और झड़ी लग गई थी उसकी आँखों से सावन-भादों की-सी। रो रही थीं आँखें, रो रहा था दिल अपनी दुनिया उजड़ती देख कर।

और दूसरे दिन संध्या के झुटपुटे में उसी पोखरे के किनारे उसी सघन आम्र-वृक्ष के नीचे कहा था अनुकूल ने—"मैं जा रहा हूँ, सरोज।"

"कहाँ जा रहे हो ?"

"परदेस।"

दिल में हूक उठी थी, गले में कुछ आ अटका था। कहा था उसने किसी तरह—"परदेस ?...क्या करने जा रहे हो परदेस ?"

"धन कमाने।...धन ही संसार में सब-कुछ है, रानी। धन जिसके पास नहीं, वह कुछ नहीं।"

सन्न खड़ी रही थी वह भावों के झोंके रोकती।

"ढेर-सा धन कमा कर, अमीर बन कर लौटूँगा, तो कोई बाधा हम दोनों के बीच नहीं रह जायगी।...तब हम अपना एक नीड़ बनायेंगे, गृहस्थी जुटायेंगे, सपनों का संसार बसायेंगे।...सुनहरे दिन होंगे, रँगीली रातें होंगी!...वही सुनहरे दिन, वही रँगीली रातें लाने जा रहा हूँ, सरोज।"

वैसे ही स्तब्ध, मौन खड़ी रही थी वह।

"बस, मुझे दुख केवल इस बात का है, कि एक अरसे तक, शायद एक लम्बे अरसे तक तुम्हारी प्यारी सूरत देखने को न मिलेगी, तुम्हारी मीठी आवाज सुनने को तरस जाऊँगा।"

तब असीम विह्वलता से, अवरुद्ध कंठ से बोल पड़ी थी वह— "नहीं, न जाओ तुम, न जाओ!"

"नहीं, सरोज, मुझे जाना ही होगा। यहाँ पड़े रहने से काम नहीं चलेगा। सोचा था कि यहीं रह कर खेती-बारी से काम चल जायगा। लेकिन यह न हो सकेगा। जो कुछ लिखा-पढ़ा है, उससे लाभ उठाना ही होगा शहर में जाकर।...लौट कर आऊँगा परदेस से ढेर-सा धन लेकर। और तब...तुम्हारे पिताजी ने वचन दिया है, कि वे मेरा इंतजार करेंगे।...और तुम? तुमसे वचन लेने की कोई जरूरत नहीं।"

और तब बिदाई-जुदाई की उस बेला में अकथनीय, अपरिमित वेदना जैसे सिसकियाँ भरने लगी थी भीतर, बाहर, चारों ओर।

और दूसरे दिन वह चला गया गाँव छोड़कर, सुनहरे दिन और रँगीली रातों की खोज में।...

वर्ष-पर-वर्ष बीतते जा रहे हैं। एक तार में बँधे हुए, क्रमानुसार

दिन और रात, सप्ताह और महीने आते हैं, और चले जाते हैं। किन्तु कहीं से कोई खबर नहीं आती परदेसी की।

प्रतीक्षा कर रही है सरोज, प्रतीक्षा कर रही है। जीवन के अन्त-काल तक प्रतीक्षा करती रहेगी वह। शरीर मुरझाता जा रहा है। मन भी मुरझाया-सा रहता है। किसी चीज में रुचि नहीं रह गई है। जड़वत चल रहा है जीवन एक संकुचित परिधि के अन्दर।

किन्तु एक दिन फिर विकट आन्दोलन से भर उठा उसके शरीर का एक-एक तार।

"सरोज !...बेटी सरोज !"—बाहर से आवाज आई।

"आई, बाबा।" और वह तुरन्त पहुँची बाहर।

वृद्ध पाँचू बाबू बैठे थे तख्त पर पिताजी के समीप।

"जरा चिलम भर दो, बेटी।"

चिलम लेकर वह चली आई अन्दर।

जरा देर के बाद भरी हुई चिलम बाहर देकर जब वह लौटने लगी, तो ठिठक कर खड़ी रह गई दरवाजे के अन्दर किवाड़ की आड़ में।

"सरोज का सम्बन्ध कहीं ठीक हुआ, तिमिर ?" धुयें का लम्बा सुरसुरा फेंक कर, खाँस कर, कहा पाँचू बाबू ने।

"अभी कहाँ ठीक हुआ, दादा," दीर्घ निःश्वास खींच कर, पिताजी ने कहा—"जहाँ बात चलती है, वहाँ तुरन्त गठरी की माँग पेश हो जाती है। और यहाँ यह हाल है, कि पास में फूटी कौड़ी भी नहीं है। सब-कुछ तुम जानते हो। कुछ तुमसे छिपा नहीं है।...सरोज को देखता हूँ, तो रोना आ जाता है, दादा। तबीयत यह बात गवारा नहीं करती, कि उसे किसी ऐरे-गैरे को सौंप दूँ। मेरी राजरानी-सी बेटी क्या किसी ऐरे-गैरे को सौंप देने लायक है ?"

"नहीं, भाई, नहीं। ऐसी बात स्वप्न में भी न सोचना। हमारी सरोज सचमुच राजरानी-सी है, राजलक्ष्मी-सी है।...तब क्या होगा, भाई ?"

"जो ईश्वर की इच्छा होगी !"

"नहीं, केवल ईश्वर के सहारे बैठे रहने से काम न चलेगा।" और हुक्के का एक लम्बा कश खींच कर, धुँयें का सुरसुरा फेंक कर, जैसे गहरे विचारों में डूब गये वह। वृद्ध पाँचू को संसार का गहरा अनुभव है, और नाटकीयता की भी उनमें कमी नहीं है। इन्हीं दो अनमोल गुणों की बदौलत उन्होंने कितने ही पड़ाव मारे हैं, कितने ही मैदान सर किये हैं। जिन्दगी को पूरी तरह चूस कर उसका पूरा-पूरा रस निकाल लेने के आप कायल हैं। गेहुँआ रङ्ग, झुकी हुई कमर, छोटी-सी दाढ़ी, घनी मूँछें, खिचड़ी बाल, सुग्गे की टोंट-सी लम्बी नाक, अन्दर घुस कर थाह लेने वाली, कुछ बुझी-सी आँखें-जीवन से जोंक की तरह चिपटे हुए वृद्ध पाँचू।

जरा देर के बाद विचार-सागर से सिर निकाल कर, मुस्करा कर, वृद्ध पाँचू ने कहा—"मैं बतलाऊँ, तिमिर। ऐसी बात सूझी है मुझे कि कुछ पूछो नहीं। बस, इतना समझ लो, कि हर तरह तुम्हारी विजय-ही-विजय रहेगी।"

"क्या है वह ?" उत्सुकतापूर्वक पूछा तिमिर बाबू ने।

"ठहरो बतलाता हूँ अभी।" हुक्का गुड़गुड़ाते रहे वह दो क्षण तक। फिर कहा—"मानोगे मेरी बात ?"

"क्यों न मानूँगा, अगर मान सका ?"

"तुम यही चाहते हो न, कि राजरानी-सी सरोज राजरानी-सी रहे ?"

"बस, यही, दादा !"

"तो फिर तुम सरोज का ब्याह बंद्रू से कर दो।"

"बंद्रू !...यह क्या कह गये तुम ? कहाँ सरोज, कहाँ बंद्रू !"

"तिमिर बाबू, मैंने मज़ाक के ख्याल से ऐसा नहीं कहा।...आख़िर क्या ख़राबी है बंद्रू में ?"

"ख़ूब !...बंद्रू शायद क़रीब-क़रीब मेरे बराबर होगा।"

"नहीं-नहीं, उसकी उम्र इतनी नहीं है। वह ज्यादा-से-ज्यादा चालीस का होगा। देखने में वह कुछ अधिक उम्र का जरूर लगता है, लेकिन वास्तव में उसकी उम्र उतनी नहीं है। बात यह है, कि एक बार उसे एक बड़ा कठिन रोग हो गया था। क्या कहते हैं उसे ?...देखो, भला-सा नाम है !...हाँ, निमोनिया। उस रोग ने जैसे उसका सारा खून ही चूस लिया। रोगमुक्त होने के बाद बेचारा बूढ़ा-सा लगने लगा। लाख उपाय करने पर भी वह खराबी पूरी तरह दूर नहीं हो सकी। यही कारण है, कि बेचारा कुछ बूढ़ा-सा लगता है। लेकिन वह बूढ़ा नहीं है।"

"कुछ भी हो, बूढ़ा दिखने वाला आदमी बूढ़ा ही कहा जायगा ! किसी बूढ़े के गले सरोज को बाँध देना उसकी हत्या कर देने के बराबर होगा।"

"कैसी बात कर रहे हो, तिमिरि ? राम ! राम ! कैसा घोर कलियुग लग गया है, मा काली। धर्म पर जैसे आस्था ही नहीं रह गई है किसी की। मैं नहीं जानता था, तिमिर, कि तुम्हारे ऊपर भी आज-कल का नकली रंग चढ़ गया है। हमारे बाप-दादे साठ-साठ, सत्तर-सत्तर बरस की उम्र में शादी करते थे, और लोग बड़ी खुशी से उन्हें अपनी लड़कियाँ देते थे। कोई उनकी आलोचना नहीं करता था। लेकिन आज-कल तो ऐसी बात छिड़ते ही लोग कपाल पर आँखें चढ़ा लेते हैं। जैसे यह

अनहोनी, अनसुनी बात हो।...नहीं, तिमिर, तुम इस रङ्ग में मत बहो। बंटू की उम्र का, उसके रङ्ग-रूप का ख्याल मत करो। उसकी जायदाद पर, दौलत पर नजर डालो। इस गाँव का वह सबसे धनी आदमी है। आस-पास के दस-बीस गाँव में भी उस-जैसा धनी कोई नहीं है। सरोज उसके घर में राजरानी की तरह रहेगी। और—तुम्हारी हालत भी सुधर जायगी।"

"यह सब तो ठीक है, लेकिन मेरा मन यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर पा रहा है।"

ठहाका मार कर हँस पड़े वृद्ध पाँचू।

"मन की खूब कही, भाई! मन का राजी होना कुछ कठिन नहीं। दस मिनट तक ठंडे दिमाग़ से गौर करोगे, तो स्वीकार कर लेगा मन। इसी में सरोज की भी भलाई है, तुम्हारी भी भलाई है।"

"सरोज की माँ भी इसे स्वीकार न करेगी।"

"नहीं, तिमिर, तुम्हारी यह शंका निर्मूल है। उन्हें सब-कुछ साफ़-साफ़ समझा दोगे, तो वह अवश्य मान लेंगी।

अधिक नहीं सुन सकी सरोज। तेजी से अपने कमरे में जाकर चारपाई पर गिर पड़ी। हे ईश्वर! यह कैसा प्रस्ताव है? क्या वह उस बूढ़े खूसट को सौंप दी जायगी? देखा है उसने बंटू को। कितनी घिनौनी है उसकी सूरत! अनाज से भरे बोरे-सी तोंद, अधपकी मूँछे, अधपके सिर के बाल, चिपटी नाक, छोटी-छोटी, मक्कारी से भरी आँखें, चौड़ा, चौकोर-सा, बीभत्स चेहरा। बोलता है, तो मुँह से थूक उड़ता है। कुछ भचक कर घिसटता हुआ चलता है। सारा गाँव उसके दाँव-पेंच से हैरान है। कोई उसका प्रशंसक नहीं। मुँह के सामने ठकुरसुहाती कहने वाले भी पीठ-पीछे उसकी बुराई करते हैं। वह जायदाद वाला सही, पैसे वाला

सही। लेकिन किस काम की ऐसी जायदाद ऐसी दौलत, जो ग़रीबों के गले दबा कर पैदा की गई हो? भाड़ में जाय ऐसी दौलत। ऐसे क्रूर, कुटिल, खूसट व्यक्ति को केवल उसकी दौलत देखकर, उसे सौंप देने का प्रस्ताव। ओफ़! क्या पाप किया है उसने? कौन-सा अपराध किया है उसने? वाह, महाशय पाँचू, वाह! इसी तरह क्वाँरी लड़कियों का उद्धार करा के पुण्य लूटते हो तुम? लेकिन यहाँ तुम्हारी दाल नहीं गलेगी। यह गुड़ ऐसा नहीं कि चींटे खायँ। वह ज़हर खा लेगी, पोखरे में डूब मरेगी, मगर बंटू को नहीं बरेगी। और फिर किसी को बरने न बरने का अभी प्रश्न ही कहाँ है? वह प्रश्न आयेगा शीघ्र ही, अवश्य आयेगा शीघ्र ही। वर चुन लिया है उसने। वह गया है परदेश धन कमाने के के लिये, अमीर बनने के लिये। शीघ्र ही ढेर-सा धन कमा कर वह लौट आयेगा। अवश्य लौट आयेगा वह शीघ्र ही। तब कोई बाधा नहीं रह जायेगी दोनों के बीच। तब एक होकर दोनों चल पड़ेंगे जीवन के विशाल पथ पर हँसते-खेलते हुए, एक-दूसरे को सहारा देते हुए। तब सुनहरे दिन होंगे, रंगीली रातें होंगी। इतना सुख, इतना सुख मिलेगा दोनों को, कि वे उसे सँभाल कर रख न सकेंगे। किन्तु यह प्रस्ताव—यह विकट प्रस्ताव? सराहनीय दृढ़ता दिखाई है पिताजी ने। किन्तु उनका कोई ठिकाना नहीं। यथेष्ट प्रोत्साहन मिलने पर वह फिसल भी सकते हैं।

आशंका से काँप उठा उसका हृदय। सहसा एक पुस्तक में देखी एक तस्वीर नाच उठी उसकी आँखों के सामने। एक भयानक वन में एक भयंकर दैत्य चला जा रहा है, एक मूर्छित सुन्दरी को कंधे पर लादे हुए, छुरे-जैसे दाँत निकाल कर मुस्कराता हुआ, विजय-गर्व से अकड़ता हुआ। तीव्र वेग से प्रवाहित होने लगा रक्त उसकी नाड़ियों में। हथौड़े की तरह चोटें करने लगा उसका हृदय।

शरीर काँप उठा, मुख लाल हो गया, मत्थे पर पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूँदें उभर आईं। अनुकूल! कहाँ हो, अनुकूल? आ जाओ जल्द-से-जल्द, और बचा लो अपनी सरोज को! देर करोगे, तो शायद उसे जीती न पाओगे! शायद एक भयंकर दैत्य उसे उठा ले जाने की कोशिश करेगा। और तब बचाव का कोई और उपाय न देख वह जहर खा लेगी, फाँसी लगा लेगी, या पोखरे में डूब मरेगी। अनुकूल! कहाँ हो, अनुकूल? अब आ जाओ जल्द-से-जल्द! अपने अस्तित्व का सब-कुछ तुम्हें भेंट करने के लिये, असीम आतुरता लिये, तुम्हारी राह देख रही है तुम्हारी सरोज! अब जल्द-से-जल्द आ जाओ, अनुकूल!

पिताजी अन्दर आये, और मा से खुसर-फुसर करने लगे। अत्यन्त मद्धिम स्वरों में चलती हुई वार्ता सुन तो नहीं सकी सरोज, किन्तु उसे यह समझ लेने में देर नहीं लगी, कि उसका सम्बन्ध उसी नये प्रस्ताव से है। अपना और प्रस्तावित वर महोदय का नाम कई बार उसे सुन पड़ा, और एक बार माँ ने कुछ जोर से कहा—"अपनी फूल-सी बेटी उस बूढ़े को सौंप दूँ? कैसे अंधेर की बात है! नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। धनी न सही, कोई साधारण वर तो मिल ही जायगा। और न भी मिले, तो भी उसे किसी बूढ़े को सौंप देने की अपेक्षा मैं यह अधिक पसन्द करूँगी, कि वह जन्म भर क्वाँरी रहे!"

खुसर-फुसर काफी देर तक चलती रही। फिर सन्नाटा छा गया। पिताजी उठ कर बाहर चले गये।

रात में जब वह खाना पका रही थी, तो मा आकर पास बैठ गईं, और हँस कर बोलीं—"नलिनी के बाबा वृद्ध पाँचू बाबू आज तेरे बाबूजी से कह रहे थे, 'सरोज का ब्याह बंटू से कर दो!' वही बंटू, जो जमींदार है,

गल्ले का थोक व्यापार करता है, और महाजनी भी करता है। बाबूजी कुछ-कुछ राजी हैं। तेरी क्या राय है?"

सरोज का चेहरा फ़क हो गया। झटके से मुँह मोड़ कर वह करछुली से कढ़ाई में छन-छन करते मछली के टुकड़ों को उलटने-पलटने लगी। बाबूजी कुछ-कुछ राजी हैं। स्वाभाविक है यह। कुछ और प्रोत्साहन मिलने पर वह पूरी तरह भी राजी हो सकते हैं?

"पाँचू बाबू कहते थे, कि बंटू के पास इतना धन है, कि कुछ कहा नहीं जा सकता। सरोज को वह राजरानी की तरह रक्खेगा।"

सरोज उसी तरह चुपचाप करछुली चलाती रही। भाड़ में जाय उसका धन! क्या वह किसी के धन की भूखी है?

"बनेगी, सरोज, बंटू की राजरानी?"

सिहर उठी सरोज। कैसी हो गई हैं मा?

"बोल क्या कहती है तू?" उसके कंधे पर हाथ रख कर, झुक कर, उसके चेहरे की ओर गौर से देखते हुए मा ने कहा।

झर-झर गिरने लगे आँसू सरोज की आँखों से।

"नहीं, बेटी, नहीं। तू नहीं चाहती, तो ऐसा न होगा।" आँचल से उसकी आँखें पोंछकर, उसकी पीठ पर थपकियाँ देते हुए मा ने कहा—"बंटू की दौलत बंटू को मुबारक रहे। मेरी सरोज किसी बूढ़े का घर न बसायेगी।...बात यह है, बेटी, कि अनुकूल अभी तक वापस नहीं आया। तेरे बाबूजी को तेरे ब्याह की फिक्र लगी हुई है। और सलाहें देने वाले ज्यादातर अंड-बंड सलाहें देते हैं। ऐसे लोग अकसर अपना कोई-न-कोई मतलब साधने के चक्कर में रहते हैं। मैं बूढ़े पाँचू को अच्छी तरह जानती हूँ। पूरे मतलबी यार हैं वह। शायद वह बंटू से कुछ ऐंठने के चक्कर में हैं।...तू इतमीनान रख, सरोज, जब तक मैं

जिन्दा हूँ, तब तक कोई ऐसी बात न होने पायेगी, जो तुझे पसन्द न हो।" उठ कर चली गईं मा।

मा तो दृढ़ हैं, किन्तु बाबूजी का कोई ठिकाना नहीं। अधिक प्रलोभन मिलने पर वह फिसल भी सकते हैं। अगर वह कहीं राजी हो गये, तो कितनी कठिन समस्या उपस्थित हो जायगी। भय से भर गया उसका हृदय। ओह, क्या होगा तब, क्या होगा?

अनुकूल! कहाँ हो, अनुकूल! जब से गये एक चिट्ठी भी न भेजी। क्या तुम भूल गये अपनी सरोज को? क्या असत्य था तुम्हारा वचन। क्या तुम केवल छल कर रहे थे सरोज से? नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हारे विरुद्ध मन कोई बात स्वीकार नहीं करना चाहता। तुम ढोंगी नहीं हो सकते। अब आ जाओ, अनुकूल, जल्द-से-जल्द आ जाओ, और बचा लो अपनी सरोज को? उत्सुक खड़ी है सरोज तुम्हारा स्वागत करने को, अपना सब-कुछ तुम्हें भेंट करने को।...

उस महानगरी में कई वर्ष से रह रहा है अनुकूल। दिन भर एक सेठ के कार्यालय में काम करता है। सुबह-शाम निजी तौर पर कुछ व्यवसाय करता है। एक बाड़े में कमरा ले कर रहता है। उसी कार्यालय में काम करने वाले और उसी बाड़े में रहने वाले एक बाबू के घर पैसे देकर भोजन कर लेता है। एक ही लक्ष्य है उसके सामने—शीघ्र-से-शीघ्र यथेष्ट धन कमा कर गाँव वापस जाय। धीरे-धीरे पहुँच रहा है वह अपने लक्ष्य के निकट। यथोचित किफायत से काम लेता है। किसी दुर्व्यसन से कोई सरोकार नहीं रखता।

उस सम्भ्रान्त परिवार में सहयोगी बाबू साहब के अतिरिक्त उनकी पत्नी थीं, विधवा लड़की थी, छोटा लड़का था। सब भले थे। सब से

उसकी बनती थी। लेकिन विधवा कल्याणी से तो उसकी इतनी पट गई थी, कि उसे भय होने लगा था, कि कहीं उनकी मैत्री सीमा का अतिक्रमण न कर जाय। बिना किसी झिझक के कल्याणी उसके कमरे में आती, कमरे की सफाई करती, चीजें सँवार-सजा कर रखती। जिस विषय पर चाहती, खुल कर वार्तालाप करती। बीमारी के समय परिचर्या के लिये तत्पर दिखाई देती। मोह का गहरा पुट हर कार्य में रहता। अकसर अनुकूल के मन में प्रश्न उठता, 'इतना सब क्यों?' और तब एक आशंका उठ खड़ी होती।

एक दिन उत्तर मिल गया उसे उस प्रश्न का। सन्ध्या को बाहर से लौट कर ज्यों ही अपने कमरे में उसने प्रवेश किया, मेज पर पड़े एक रंगीन लिफाफे ने उसका ध्यान आकर्षित किया, मेज के समीप जाकर उसने लिफाफा उठा लिया। लिफाफे में एक पत्र था। पत्र यों था—'... आपके लिये मेरे मन में जो अपनापा है, वह इतना बढ़ गया है कि अब अपने को सँभाल नहीं पा रही हूँ। मैं समझती थी, कि मेरे प्रति आपकी भावना भी कुछ ऐसी ही है। लेकिन आप तो जैसे पत्थर हैं। क्या आप सचमुच पत्थर हैं?—कल्याणी।'

वह सिहर उठा पत्र पढ़ कर। फिर अत्यधिक गम्भीर हो गया। भ्रम हुआ कल्याणी को। उधर पड़ी आरामकुरसी पर अस्त व्यस्त बैठ गया। एक हरे-भरे गाँव का चित्र सामने आ गया, फिर एक छोटा-सा घर दृष्टिगोचर हुआ। फिर घर के द्वार पर सरोज ध्यानावस्थित खड़ी दिखाई दी। दीर्घ निःश्वास निकल गया उसके मुख से। कल्याणी को भ्रम हुआ, गहरा भ्रम हुआ।

दूसरे दिन सवेरे कल्याणी आई सहमी-सी। उसकी ओर देख कर

उसने कहा—"मैं पत्थर नहीं हूँ, कल्याणी। सरासर मोम हूँ। लेकिन जो कुछ तुम चाहती हो, वह तुम्हारे लिये मेरे पास नहीं है।"

"कारण ?"

"कारण यह कि मेरे गाँव में सरोज मेरी प्रतीक्षा कर रही है।"

"प्रतीक्षा कर रही है !.. सरोज !.. सब-कुछ सुना दीजिये कृपा करके।"

और तब उसने सब-कुछ सुना दिया विस्तारपूर्वक।

आँसू ढुलक पड़े कल्याणी की आँखों से।

"क्षमा कीजिये मुझे !" उसने अवरुद्ध कंठ से कहा।

"क्षमा किस बात की ? तुमने अपराध ही क्या किया है ?"

वह चली गई धीरे-धीरे कमरे से बाहर।

कोई अन्तर नहीं आया उसके सेवा-भाव में इस घटना से। दिन बीतते गए। क्रम चलता रहा जीवन का उसी तरह।...

एक वर्ष और निकल गया। कोई खबर नहीं मिली अनुकूल की। प्रतीक्षा कर रही है सरोज उसी तरह पूर्ण मनोयोग से।

बंटू प्रायः नित्य ही आता है और पिताजी से खूब घुल-घुल कर बातें करता है। अकसर वह कोई-न-कोई सौगात भी लाता है। पिताजी क़रीब-क़रीब पिघल गये हैं। अकसर वह मा से खुसर-पुसर करते हैं। लेकिन मा अब भी दृढ़ हैं। यही सन्तोष की बात है।

गाँव में आते-जाते अकसर बंटू दिखाई दे जाता है। और तब वह उसे ऐसी बेहयाई से देखता है कि मन क्रोध से भर जाता है। कितना गँवार, कितना असभ्य है यह अनाधिकार चेष्टा करने वाला !

एक संध्या को पोखरे के किनारे वह न जाने कहाँ से आ निकला।

पास आकर, वीभत्स हँसी हँस कर, उसने कहा—"तुम मुझसे भागती हो, सरोज ? लेकिन यह कब तक ? बंटू बड़ा ख़ुशकिस्मत है। वह जो चीज़ चाहता है, उसे वह मिल कर रहती है।"

क्रोध से सरोज का चेहरा तमतमा गया।

"अगर तुम यह समझती हो, कि तुम जिसके ख्याल में मस्त हो, वह भी तुम्हारे ख्याल में मस्त है, तो यह तुम्हारी भूल है। शहर में बाँका-तिरछा बन कर घूमने वाला किसी एक के ख्याल में मस्त नहीं रहा करता। सामने मिठाई का थाल देख कर कौन अपना मन रोक सकता है ? कोई नहीं। इसलिये उचित यही है कि उसका ख्याल अपने दिल से निकाल दो। मेरी तरफ़ देखो। निहाल कर दूँगा तुम्हें। दुनिया की सारी नेमतें तुम्हारे पैरों पर लोटेंगी। दिल की रानी बनाकर रखूँगा तुम्हें। सब-कुछ सौंप दूँगा। तुम्हारे किसी काम में दखल न दूँगा। तुम्हारी साधारण-से-साधारण इच्छा भी तुरन्त पूरी करूँगा। तुम मालकिन बन कर रहना, मैं नौकर की तरह रहूँगा। बस, कह दो, 'हाँ'। मिन्नत करता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ !"

क्रोध की चिनगारियाँ बरसाती आँखों से उसकी ओर देख कर, कलसा उठा कर, सरोज चल पड़ी तेजी से घर की ओर।

तीव्र अट्टहास फूट पड़ा बंटू के कर्कश कंठ से। सिहर उठी सरोज। घूम गया फिर वही भयावह चित्र आँखों के सामने—भयानक वन में एक भयंकर दैत्य एक मूर्च्छित सुन्दरी को कंधे पर लादे हुये, छुरे जैसे दाँत निकाल कर मुस्कराता हुआ, चला जा रहा है विजय-गर्व से अकड़ता हुआ।

कहाँ हो, अनुकूल ? अब आ जाओ जल्द-से-जल्द, और बचा लो

अपनी सरोज को! "शहर में बाँका-तिरछा बन कर घूमने वाले किसी एक के ख्याल में मस्त नहीं रहता!" झूठ, सरासर झूठ!

"बंटू बड़ा खुशकिस्मत है। वह जो चीज़ चाहता है, उसे वह मिल कर रहती है।" पत्ते की तरह काँप उठी वह।

कहाँ हो, अनुकूल? अब आ जाओ जल्द-से-जल्द, और बचा लो अपनी सरोज को।

अकाल भयानक अकाल! फसल मारी गई। बखारें खाली हो गईं। बाजार से अन्न गायब हो गया। चोर बाजार का प्रादुर्भाव हुआ। चोर बाजार में अन्न का मूल्य इतना बढ़ गया, कि वह साधारण मनुष्य की पहुँच से एकदम बाहर हो गया।

भयानक विरक्ति आ गई ग्रामवासियों पर। घर में अन्न नहीं, बाजार पहुँच से बाहर। लोग भूखों मरने लगे। कोई किसी का न रह गया। सब को अपनी-अपनी पड़ गई। स्त्रियों और बच्चों का क्रय-विक्रय आरम्भ हो गया। सब-कुछ किया जाता, किन्तु किसी तरह समस्या का स्थायी हल न निकलता।

खबरें आने लगीं, कि कलकत्ते में अन्नक्षेत्र खुल गये हैं। जो समर्थ थे, वे चल पड़े कलकत्ते की ओर। जो असमर्थ थे, वे रह गये अपनी किस्मत को रोते हुये।

क्षुधा-पीड़ित मनुष्य सैकड़ों की संख्या में नित्य मरते। लाश ढोने वाले न मिलते। मृतकों की अन्त्येष्टि क्रिया न होती। गाँवों के बाहर जुसड़ती लाशों पर गिद्धों, चीलों, कौओं, कुत्तों और शृगालों के दल टूटे रहते।

जो सब का हाल था, वही हाल था तिमिर घोष के परिवार का भी

खेत और बाग-बगीचे बिक गये। अब बर्तन-भाड़े बेच कर काम चल रहा था किसी तरह।...

मा का आदेश पा, बची-खुची बटलोई लेकर, चली सरोज महाजन के घर की ओर। शरीर सिहर-सिहर उठता था। दिल काँप-काँप जाता था।

अपने शानदार घर के बराम्दे में बंटू तख्त पर बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। सरोज को आती देख मुस्कराया।

मुख पर विनीत भाव लिये, पास आकर खड़ी हो गई सरोज।

"क्या चाहिये, सरोज ?"

"चावल !"

ठहाका मार कर हँस पड़ा बंटू। उठ कर वह सामने के बन्द कमरे की ओर बढ़ा।

"यहाँ आओ, सरोज।...डरो नहीं।"

डरते-डरते सरोज पहुँची बराम्दे में।

"इधर देखो!" कमरे का दरवाजा खोल कर, बंटू ने कहा—"चावल के सैकड़ों बोरे यहाँ मौजूद हैं।...उधर देखो। रुपयों और गहनों से भरी तिजोरी रखी है। किसी चीज की यहाँ कमी नहीं। सब-कुछ यहाँ मौजूद है। और यह सब-कुछ तुम्हें मिल सकता है, अगर तुम केवल 'हाँ' कह दो।"

काँप उठी सरोज।

"बोलो, क्या कहती हो ?"

नकारसूचक भाव से सिर हिला दिया सरोज ने।

ठहाका मार कर हँस पड़ा बंटू।

"अच्छा, क्या लाई हो ?...बटलोई ।" और बटलोई उसके हाथ से लेकर, वह उलट-पलट कर देखने लगा ।

सरोज खड़ी रही, सिर झुकाये हुए ।

"इसके लिये सेर भर चावल दे सकता हूँ ।"

"दे दीजिये ।"

तौल दिया सेरभर चावल बंटू ने । अंचल में चावल ले कर, वह चल पड़ी घर की ओर मन मारे हुए । सैकड़ों बोरे चावल ! रुपयों और गहनों से भरी तिजोरी ! उसे नहीं चाहिए किसी का कुछ ।

सेर भर चावल कै दिन चलता ?

अब बेच देने लायक घर में कोई चीज नहीं । विकट परिस्थिति !...

तीन दिन से चूल्हा नहीं जला । घर में मुट्ठी भर भी अन्न नहीं । पिताजी अपनी चारपाई पर पड़े कराह रहे हैं । मा अपनी खाट पर करवटें बदल रही हैं । सरोज परिचर्या कर रही है दोनों की । तीनों भूखे हैं । तीन दिन से अन्न का एक दाना भी नहीं गया किसी के पेट में । पानी पी-पी कर आदमी कै दिन जी सकता है ?

"सरोज !" क्षीण स्वर में माँ ने पुकारा ।

सरोज पहुँची तुरन्त मा के समीप ।

"बैठ जाओ, बेटी ।"

सरोज बैठ गई मा की चारपाई पर पैताने की ओर ।

"नहीं, इधर आओ ।"

वह खिसक गई मा के वक्षस्थल की ओर । उसका हाथ अपने हाथों में ले कर, मा ने कहा—"हम सब भूखे हैं । तीन दिन से हमने कुछ नहीं खाया । इस तरह कै दिन चल सकेंगे हम ? दो-चार दिन से अधिक नहीं ।...बंटू अमीर है । अन्न और धन उसके घर में भरा पड़ा है । अगर

तुम उससे ब्याह करने को राजी हो जाओ, तो हमारा संकट आज ही कट सकता है।"

सरोज बैठी रही, सिर झुकाये हुए।

"मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं। केवल तेरी और तेरे पिता की चिन्ता है। तुम दोनों को मैं अपनी आंखों के सामने दम तोड़ते नहीं देख सकती।"

थरथराता हृदय लिये बैठी रही सरोज चुपचाप, सिर झुकाए हुए।

"बोलो, क्या कहती हो, बेटी ?...क्या तुम अपने मा-बाप को भूख से तड़प-तड़प कर मरते देख सकती हो ?..अनुकूल की प्रतीक्षा में अब बैठे रहने से काम न चलेगा। शायद वह तुम्हें भूल गया। यह बात न होती, तो क्या अब तक वह आ न जाता ?"

बाढ़ आ गई आँखों में आँसुओं की। वह उठ खड़ी हुई।

"मैं यह नहीं कहती, कि तुरन्त उत्तर दे दो। अच्छी तरह सोच-विचार लो।"

अपने कमरे में जा कर, सरोज गिर पड़ी चारपाई पर। झर-झर गिरने लगे आँसू आँखों से।

क्या वह अपनी आँखों से अपने मा-बाप को भूख से तड़प-तड़प कर मरते देख सकती है ? नहीं, नहीं ! वह स्वयं इस अवस्था में खुशी से मर सकती है, लेकिन अपने माँ-बाप को इस तरह तड़प-तड़प कर मरते नहीं देख सकती।

अनुकूल ! शायद उसे भूल गया अनुकूल ! यह बात न होती, तो क्या अब तक वह आ न जाता ? अब भी प्रबल इच्छा विद्यमान है मन में उसकी प्रतीक्षा करने की। लेकिन अब समय नहीं प्रतीक्षा के लिये। ओह !

थोड़ी देर तक वह आँसू बहाती पड़ी रही। फिर आँखें पोंछ कर, उठ कर, कमरे से बाहर निकली। दो क्षण में वह घर से बाहर हो गई।

बंटू अपने घर के बाहरी बरामदे में तख्त पर बैठा, बहियाँ देख रहा था। सरोज को आती देख कर मुस्करा पड़ा व्यंग के भाव से।

पास आ कर, खड़ी हो गई सरोज।

"कहो, सरोज। क्या चाहती हो ?"

"मैं—'हाँ'— कहने आई हूँ," लड़खड़ाते हुए मन्द स्वर में उत्तर दिया सरोज ने।

"क्या कहा ?...'हाँ' कहने आई हो ?

"हाँ।'

"जय माँ काली की ! मार लिया पड़ाव !"

थोड़ी देर में चावल के कई बोरे आ गये तिमिर घोष के घर में। आनन्दित हो उठे पति-पत्नी। ऊपर से सन्तुष्ट दिखाई दे रही थी सरोज भी। किन्तु रो रहा था उसका दिल।

एक सप्ताह के बाद शुभ मुहूर्त में ब्याह हो गया सरोज का बंटू के साथ। रोता हुआ दिल लिये, विदा हो गई सरोज मायके से।...

दुपहरी की अलस नीरवता में दरवाजे की जंजीर एकाएक खड़खड़ा उठी। मा ने जाकर दरवाजा खोला। अनुकूल सामने खड़ा था। मा अकचका गई। अनुकूल ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया।

"अरे, अनुकूल !...खुश रहो !...आओ !"

मा के पीछे-पीछे उसने प्रवेश किया घर में।

"बैठो।"

वह बैठ गया बरामदे में पड़ी चारपाई पर।

"परदेस से कब लौटे ?"

"अभी चला आ रहा हूँ।"

"मजे में रहे ?"

"जी हाँ।...कृपा आपकी !"

"देर कर दी तुमने लौटने में।"

माथा ठनका उसका। प्रश्नसूचक दृष्टि से उसने देखा मा की ओर।

"एक पखवारा हुआ सरोज का बंटू के साथ ब्याह हो गया।"

फ़क हो गया उसका चेहरा। जैसे जोर का घूँसा जमा दिया हो किसी ने दिल पर।

"तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते हैरान हो गई सरोज। एक चिट्ठी भी नहीं भेजी तुमने। अन्त में विवश हो कर उसे बंटू का प्रस्ताव स्वीकार कर लेना पड़ा।"

उठ खड़ा हुआ अनुकूल।

"बैठो, बेटा। नाश्ता तो कर लो।"

"नहीं, माफ कीजिये इस समय। फिर आऊँगा।" और वह तेजी से निकल गया घर से बाहर।

दीर्घ निःश्वास खींच कर, सिर हिला कर, मा ने बन्द कर लिया दरवाजा।

चला जा रहा है अनुकूल, विक्षिप्त-सा लड़खड़ाता हुआ। चारों ओर तबाही के दृश्य उपस्थित हैं। कोई चिन्ता नहीं। यदि गाँव के बाकी बचे लोग भी आज ही इसी समय मर जायँ, और गाँव जल कर खाक हो जाय, तो भी उसे जरा भी खेद न होगा।

आँखों के सामने अँधेरा छाया जा रहा है। हलक सूखा जा रहाहै। अंदर न जाने कैसी बेचैनी-सी भरी जा रही है।

गाँव के बाहर पहुँच कर, वह बैठ गया एक छतनार वृक्ष के नीचे

अस्त-व्यस्त। धूल में मिल गये आज सारे अरमान! बन गई आज आशाओं की समाधि!

छाया जा रहा है गहन अंधकार भीतर, बाहर, चारों ओर। वाह रे जीवन! शायद ठोकरें ही खाता है जीवन के पीछे दौड़ने वाला।

मृत-प्राय-सा कब तक वह पड़ा रहा उस पेड़ के नीचे, उसे पता नहीं।

"अरे, अनुकूल।"

सिर उठा कर उसने देखा—मित्र सुधीर सामने खड़ा था। मुस्करा दिया किसी तरह।

"परदेस से कब आये, भाई?"

"आज ही आया हूँ।"

"यहाँ क्या कर रहे हो?"

"कुछ नहीं।"

तब सुधीर मित्र के समीप बैठ कर, तरह-तरह के प्रश्न करने लगा।

थोड़ी देर के बाद उठ कर, वे चल पड़े एक ओर।

पीने के लिये कभी पी नहीं उसने। लेकिन आज जी भर कर पीने-पिलाने का दिन है। वर्षों के बाद आज घर लौटा है वह, और कितना अच्छा स्वागत हुआ है उसका।...

"कुछ सुना?" घर के अंदर प्रवेश करके, बंटू ने कहा।

सिर उठा कर, सरोज ने देखा उसकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से।

"अरुन देव का लायक बेटा अनुकूल परदेस से वापस आया है, और होली में बोतल-पर-बोतल चढ़ा कर बाप का नाम रोशन कर रहा है।" और ठठाकर हँस पड़ा बंटू।

जैसे कलेजे पर लाठी मार दी हो किसी ने। आँखें सजल हो गईं। सिर झुकाकर, वह चली गई दूसरी ओर।...

दीपदान

सन्ध्या का झुटपुटा हो गया था। महफिल जमी थी अनुकूल की मदिरालय में। सुधीर के अतिरिक्त जमा थे और कई व्यक्ति। चल रहे थे दौर-पर-दौर।

"एक स्त्री आपको बाहर बुला रही है," पास आ कर, मदिरालय के स्वामी ने अनुकूल के कान में कहा।

अनुकूल तुरन्त उठ कर बाहर निकला। स्त्री पास आ कर बोली—"सरोज दीदी आपसे मिलना चाहती हैं।"

"कहाँ?"

"पोखरे पर। वहीं आपका इन्तजार कर रही हैं।"

"अच्छा, तुम चलो। मैं अभी आता हूँ।"

दोस्तों से थोड़ी देर के लिये माफी माँग कर, वह चल पड़ा पोखरे की ओर। क्यों बुलाया है उसने? अब वह क्या चाहती है उससे?

उसे देखते ही सरोज दौड़ कर उसके पैर से लिपट कर रोने लगी। उसे शालीनतापूर्वक अलग करने की कोशिश करने लगा वह।

"माफ कर दो मुझे।" सरोज ने सिसक कर कहा।

"माफ तो तुम्हें पहले ही कर चुका!...लेकिन क्या मैं मर गया था कि तुमने ऐसा कर डाला?"

"बात यह थी कि अन्न का एक दाना भी घर में नहीं रह गया था। सारे बर्तन-भाड़े बिक चुके थे। मा और बाबूजी भूख से तड़प-तड़प कर मृत-प्राय हो गए थे। उन्हें बचाने का कोई और उपाय न देख कर, मा के जोर देने पर मुझे वह प्रस्ताव स्वीकार कर लेना पड़ा!" झर-झर गिर रहे थे आँसू उसकी आँखों के।

तो यह बात है। कसूर सारा उसका ही है। सरोज निरपराध है। ढुलकने लगे आँसू उसकी आँखों से भी।

दूसरे दिन सबेरे अनुकूल को अपने द्वार पर खड़ा देख कर बंटू अकचका गया।

"अरे अनुकूल बाबू!...कैसे कष्ट किया?"

"मुझे चावल चाहिये, महाशय।"

"कितने का?"

"पाँच हजार का!"

"पाँच हजार का?" आश्चर्य से आँखें फाड़ कर उसकी ओर देखते हुये बंटू ने कहा—"इतना चावल क्या होगा?"

"एक अन्नक्षेत्र खोलना है।"

"मालूम होता है, परदेस से ढेर-सा धन कमा कर लाये हैं, अनुकूल बाबू?"

"बेशक।"

"आखिर कितना लाये हैं?"

"छः हजार।"

"तो सब-का-सब लुटाये क्यों दे रहे हैं? कुछ अपने लिये भी तो रखना चाहिये?"

"मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं।"

ठहाका मार कर हँस पड़ा बंटू। कैसा मूर्ख है अनुकूल!

राग

पौ अभी फटी ही थी प्राची में, कि अंगड़ाई लेकर, उठ बैठा बिस्तर पर अरविन्द। रात में चाहे कितनी ही देर तक क्यों न जागता रहे, पर सबेरा होते ही उठ जाता है वह। एक नियमित क्रम है, जिसकी सीमाओं के अन्दर ही संचालित करता रहता है वह अपने-आप को। ऐसा तो करना ही चाहिए मनुष्य को मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए। अनियमितता कहाँ होती है स्वास्थ्यप्रद ?

लम्बी जम्हाई ले कर उसने उठा लिया पास ही पड़ी गोल मेज पर से रोल्ड-गोल्ड सिगरेट-केस, और एक 'रेड ऐण्ड ह्वाइट' निकाल कर सुलगाया। सब ठीक था, जैसा था। और हो ही क्या सकता था इसके अतिरिक्त ? सुविधायें सभी उपलब्ध थीं। आराम का सारा सामान मौजूद था। फिर भी एक खटक थी, जो मन को बराबर कचोटती रहती थी।

उस खटक का आज कोई इलाज न था। राग जब चुपके से उठकर मन को सम्मोहित कर देता है, और कामनायें उग्रता से उठ खड़ी होती हैं, तो उन्हें बलात बन्दी कर देने पर मन अशान्त तो होगा ही। किन्तु कामनाओं को खुल-खेलने देकर यदि अपने आदर्शों के प्रति सच्चाई न बरती जा सके, तो उन्हें बन्दी कर देने के अतिरिक्त चारा ही क्या रह जाता है?

क्या मूर्ख है वह? स्वयमेव अपने-आप को मनोवांछित सुख से वंचित कर देना मूर्खता तो है ही राग पक्ष की दृष्टि में। किन्तु अन्तरात्मा के आदेश पर ऐसी मूर्खता तो उसे करनी पड़ती ही रही है अकसर।

धुएँ का लम्बा सुरसुरा फेंककर, दीर्घ निश्वास खींचा अरविन्द ने।

अपूर्व था, अद्भुत था वह सुख, और स्वयमेव आकर बिखर गया था सामने। स्वभावतः भयानक, विकट चाहना जाग्रत हो गई थी उसके लिए मन में, और उसे अपनाकर उपलब्ध हुई थी अपरिसीम परितृप्ति। फिर बलात् वंचित कर देने पर अपने-आप को उस सुख से, क्या मिट गई उसकी कामना? अपरिसीम परितृप्ति प्रदान करने वाले रस का स्वाद क्या कभी कोई भूलता है? 'नहीं-नहीं' से 'और-और' की चाहना कब मिटाई जा सकी है? राख की पर्त जरूर जम गई है, पर अंगारे तो दहक ही रहे हैं उसके नीचे।

रामलाल कमरे में आया। हाथ में एक प्लेट थी, और प्लेट पर एक तार था।

तार खोलकर पढ़ा अरविन्द ने—

'दून एक्सप्रेस से पहुँच रही हूँ।—चन्द्रावती।'

बाल-सूर्य की रश्मियों के स्निग्ध, मधुर स्पर्श से कमल की पंखड़ियाँ खिल जाती हैं जैसे धीरे-धीरे, वैसे ही आछें खिल गयीं अरविन्द की।

और खुश होकर सोचता हुआ चला गया रामलाल, कि तार में जरूर कोई ख़ुशखबरी थी, कि मगन हो गये उसके साहब।

'तो आ रही है चन्द्रावती!' गुनगुना उठा सम्मोहित मन।

वह आ रही है, तो आये, सिर आँखों पर आये। यह बात और थी, कि उसी के रस से छलकते सान्निध्य से बचने के लिए ही तो वह देहरादून भाग आया था, प्रयाग छोड़ कर। पर वह आ ही रही है, तो कैसे रह सकती है उसके स्वागत में कोई कोर-कसर।

लम्बी बीमारी के बाद स्नेहमयी रमा का देहान्त हो जाने के बाद जो भयानक रिक्तता आ गई थी उसके जीवन में, वह जैसे तिल-तिल करके खाये जा रही थी उसे अन्दर-ही-अन्दर। हर समय जैसे वह समाया ही रहता अपने ही अन्दर। अन्तर के प्रकोष्ठ से बाहर निकलकर किसी तरफ हाथ बढ़ाने को जी ही न चाहता। सब-कुछ करता था वह तब भी पहले ही की तरह, पर जैसे एक महाशून्य-सा घेरे रहता था उसे हर समय। जैसे रमा के साथ ही चला गया हो उसके जीवन का सारा सुख-चैन। इस भावनात्मक एकान्तवास में जैसे संकुचित होता जा रहा था उसका अस्तित्व। अदालतें और अध्ययन-कक्ष—बस, इन्हीं क्षेत्रों में बीतता उसका अधिकांश समय। सामाजिक जीवन से वह अलग हो गया था एकदम एक तरह से। घूमने निकल जाता कभी-कभी, या फिर कोई अच्छी फिल्म देखने चला जाता यदा-कदा। स्वभावजन्य ही था उसका एकान्त-प्रेम, जो परिस्थितियों के कारण आज उभर आया था तीव्रता से। किन्तु इस तरह अलग-थलग रहकर भी, अपने आप में डूबे रहकर भी, वह तुष्टि कहाँ पास आती थी उसके, जिसके अन्दर से ही शान्ति की उपलब्धि होती है बहुधा! क्षुधित, तृषित अन्तर्मन जैसे केवल तन्द्रित हो गया था

अभाव-जनित आलस्य के प्रभाव में। धोखे में नहीं था वह, किन्तु अन्यथा की खोज की रुचि दब गई थी विवेक के प्रभाव के नीचे।

तभी मित्र प्रकाश ने उसे आग्रहपूर्वक आमन्त्रित किया उस पार्टी में, जो वह दे रहा था अपने द्वितीय पुत्र की प्रथम वर्षगाँठ के अवसर पर। अरविन्द ने माफी चाही, पर प्रकाश जिद पर अड़ गया, कि उसे आना ही पड़ेगा उसकी पार्टी में।

और जाना ही पड़ा उसे उस पार्टी में मजबूर होकर। दिन ढल रहा था। प्रकाश के बँगले के सुन्दर लॉन पर कुर्सियाँ और मेजें रखी हुई थीं सजाकर। मेहमान आते जा रहे थे। प्रकाश सपत्नीक स्वागत कर रहा था मेहमानों का, और परिचय करा रहा था उनका एक-दूसरे से।

"आप हैं श्री श्याननारायण और श्रीमती चन्द्रावती नारायण। और आप हैं अरविन्द कुमार।"—प्रकाश ने परिचय कराया।

शालीनतापूर्वक हाथ मिलाया अरविन्द ने श्री श्यामनारायण से। और फिर हाथ बढ़ाया उसने श्रीमती चन्द्रावती नारायण की ओर।

हाथ बँध गये, नजरें एक-दूसरे से मिलीं, और मिली की मिली रह गयीं। और मुस्कान खिल गई दोनों के चेहरों पर। जैसे जाने कब का परिचय हो, जो आज इस तरह नया हो रहा हो। देख रही थीं, पहचान रही थीं नजरें, पुलक से भरकर।

किन्तु देखते रहना चाह कर भी देखते रहा तो नहीं जा सकता ऐसे अवसर पर।

होश आया। नजरें हटीं।

और गहन ममता-भरे स्वर में कहा अरविन्द ने—"बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर!"

"मुझे भी बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर!" कहा चन्द्रावती ने भी।

और जैसे कोई मधुर रागिनी-सी कूक उठी अरविन्द के कानों में।

क्या हो रहा है यह ? कभी तो पहले नहीं हुआ था ऐसा।

श्यामनारायण बढ़ गये अन्य लोगों की ओर।

दोनों खड़े रहे चुपचाप कई क्षण। फिर अरविन्द ने कहा शालीनता-वश—"आइये, बैठें कहीं।"

और दोनों जाकर बैठ गये एक खाली मेज पर।

"अजीब बात है," होंठों पर मुस्कान बिखेर कर, चन्द्रावती ने कहा—"मुझे लगता है, कि जैसे मैं बहुत दिनों से आपको जानती हूँ।"

"मुझे भी ऐसा ही लग रहा है," स्वीकार किया अरविन्द ने।

"लेकिन कहाँ और कब पहले भेंट हुई थी आपसे, कुछ याद नहीं पड़ता।"

"अकसर ऐसा होता है," अरविन्द ने कहा—"कि किसी अपरिचित से मिलकर हमें लगता है, कि हमारी पहले भी भेंट हो चुकी है। लेकिन समय की धुंध में कब और कहाँ की खोज कर पाना कठिन होता है।"

"इसे भ्रम तो नहीं कह सकते ?"

"नहीं, इसे भ्रम कहना ठीक न होगा। मान लेना चाहिये, कि निश्चय ही पहले भी कभी हमारा परिचय रहा है। स्मरण-शक्ति की विवशता के कारण अविश्वास को पनपने देना उचित तो नहीं।"

"तो फिर मैं माने लेती हूँ, कि पहले भी आपसे मेरा परिचय रह चुका है।" और धीरे से हँस पड़ी चन्द्रावती।

"धन्यवाद !" मुस्करा कर, कहा अरविन्द ने— "मैं भी माने लेता हूँ यही।"

"और जब पुराना परिचय इस तरह नया हो, तो उसे आगे ह बढ़ना चाहिए न ?"

"इसमें क्या सन्देह है ?"

"तो क्या मैं आशा करूँ, कि इस तरह सामने आकर आप फिर छिप न जायेंगे ?"

"ऐसा तो इरादा नहीं है मेरा," हँसकर, उत्तर दिया अरविन्द ने—"आप छिप जायें, तो छिप जायें।"

"मेरी तरफ से आप इतमीनान रख सकते हैं," मुस्करा कर, कहा चन्द्रावती ने इस तरह, कि अविश्वास की कोई गुञ्जाइश न रही।

खिले-खिले-से, मुस्कराते हुए, आ गये श्यामनारायण। क्षमा-याचना के स्वर में बोले—"मैं जरा पाण्डेयजी से मिलने चला गया था, चन्द्रा। कोई असुविधा तो नहीं हुई तुम्हें ?"

"नहीं।"

"असुविधा होती भी क्यों ? प्रकाश को अपने हर मेहमान का ख़्याल रहता है।...और फिर अरविन्द जी तो साथ में थे ही।"

मुस्करा कर, प्रत्युत्तर दिया अरविन्द ने सद्भाव का।

सामान आ गया मेज पर।

स्वयं भी आ गया प्रकाश, और बोला आग्रहयुक्त स्वर में, मुस्करा कर—"तकल्लुफ न कीजियेगा, बैरिस्टर साहब। मेरी गैरहाजिरी से फायदा उठाना अन्याय होगा मेरे साथ।"

"मैं अन्याय का पक्षपाती नहीं हूँ, यह तुम बखूबी जानते हो," आंखों में चमक लाकर, श्यामनारायण ने कहा—"और अपने मामले में तो बिलकुल नहीं।"

हँस पड़ा प्रकाश।

"और आप, मिसेज नारायण?"

"बेमौका अन्याय की आशा मुझसे भी न कीजिए," हँसकर, चन्द्रावती ने कहा।

"धन्यवाद! आपसे मुझे ऐसे ही उत्तर की आशा थी।...और जहाँ आप लोग हैं, वहाँ अरविन्द की तरफ से मुझे इतमीनान है।"

और बढ़ गया प्रकाश दूसरी मेज की ओर।

"बड़ा ख़ुशमिजाज है प्रकाश," केक खाते हुए, श्यामनारायण ने कहा।

"ख़ुशमिजाजी जरूरी भी है सामाजिक जीवन के लिए," चाय का घूँट लेकर, अरविन्द ने कहा—"ख़ुशमिजाजी के बगैर रस नहीं आता सामाजिक जीवन में।"

"बहुत ठीक, अरविन्द जी। मैं तो कहूँगा, कि जो लोग मनहूस हैं, उन्हें भी ख़ुशमिजाजी का चेहरा लगाकर ही सामाजिक जीवन में भाग लेना चाहिये।"

"लेकिन उनकी मनहूसियत तो झलकेगी ही फिर भी," अरविन्द ने कहा।

"झलकेगी तो जरूर, लेकिन इतनी नहीं कि दूसरों को भी उसकी हवा लग जाय, और सब का मजा किरकिरा हो जाय।"

हँस पड़े सब।

चाय चलती रही। बातें होती रहीं। बातें श्यामनारायण और अरविन्द में ही हो रही थीं। चन्द्रावती बोल देती थी एकाध बात।

"तारीफ तो मैंने बहुत सुनी थी आपकी," अरविन्द ने कहा—"और

आपको देखा भी था अक्सर। लेकिन आप से मिलने का सौभाग्य आज ही प्राप्त हुआ।"

"इसकी जिम्मेदारी मुझ पर तो नहीं होनी चाहिए?"

"जी नहीं, इसके लिए तो मैं ही जिम्मेदार हूँ।...बात यह है, कि मैं सामाजिक जीवन से दूर ही रहता हूँ।"

"मैं भी बहुत कम आता-जाता हूँ कहीं," श्यामनारायण ने कहा—"ख़ैर, अब तो हमें मिलते रहना चाहिये।"

"जरूर।"

"तो आइये किसी दिन हमारे यहाँ।"

"आऊँगा।"

श्यामनारायण फिर उठकर, चले गए लोगों से मिलने।

"अपने घर पर आपका स्वागत करने में बेहद खुशी होगी मुझे," चन्द्रावती ने कहा।

"धन्यवाद।"

"तो कब आइयेगा?"

"जब कहिए।"

"कल ही आइये डिनर पर।"

"आऊँगा।"

"जरूर?"

"जरूर।"

तभी आ गया प्रकाश मिसेज टनखा के साथ।...

श्यामनारायण और चन्द्रावती के चले जाने के बाद जब वह वापस आया घर, तो जैसे किसी गहरे, सुखद नशे में डूबा हो। रस से

लबालब भरा था मन का कोना-कोना। चन्द्रावती के सुकोमल, सुन्दर ,ाथ के रेशमी स्पर्श का माधुर्य जैसे व्याप्त हो रहा था कण-कण में, और सिहरन ला दे रहा था रह-रह कर सारे शरीर में। ऐसा तो नहीं हुआ था पहले कभी।

श्यामनारायण—अधेड़, गोल-मटोल, फस-फस। चन्द्रावती—पूर्ण यौवन, चम्पईरंग, तीखे नक्श, साँचे में ढला शरीर, राशि-राशि रूप, लावण्य। कोई समानता नहीं कहीं भी। फिर भी पति-पत्नी। दाम्पत्य का उपहास। विडम्बना—दुर्बोध विडम्बना।

साक्षात्कार! नजरों का उठना, मिलना और जाने क्या-क्या कहना-सुनना। और यह मीठा-मीठा दर्द, यह ज्वाला कि जो भर दे रही है शरीर को पूस की धूप की तरह मधुर स्निग्धता से। और यह कामना—दुर्दमनीय कामना।

ऐसा तो कभी नहीं हुआ था पहले। इसकी तो कभी कल्पना भी नहीं की थी उसने।

आमंत्रण, आग्रह, इसरार, कि इनकार का मुँह बन्द हो जाय आप-ही-आप।

यह सब क्या सोच रहा है वह? ऐसा सोचना चाहिये कभी?

औचित्य-अनौचित्य के तराजू पर तौल कर ही क्या सोचा जाता है सदा-सर्वदा? भावनाओं की आँधियाँ जब चलती हैं जोर-शोर से, तो स्थितप्रज्ञता का कलेजा भी क्या हिल नहीं जाता?

राशि-राशि सुगन्धित सौन्दर्य, राशि-राशि सुवासित मधुरिमा जब बिखर जाय चहुँ ओर अप्रत्याशित रूप से, तो विभोर क्यों न हो तृषित, तृषित मन।

भीगती गई रात।

एक, दो, तीन।

और जाने कब मुँद गयीं बोझिल पलकें।

और सबेरा हुआ, तो खुमार बाकी था रात के नशे का, और आलस्य भरा था शरीर में मीठा-मीठा।

घंटी बज उठी तड़के-तड़के ही टेलीफोन की।

"हेलो!" बंसरी की तान-सी रंगीली आवाज़।

"हेलो!"

"अरविन्द जी।"

"जी।"

"पहचाना?"

"पहचान गया।"

"कौन हूँ?"

"चन्द्रावती..."

"बस, आगे न जोड़िये कुछ।"

"क्यों?"

"बढ़ते हुए को रोकना क्या ठीक होगा?"

"नहीं।

"फिर?"

"न जोड़ूँगा कुछ।"

"बहुत तड़के तकलीफ दी आपको।"

"कितनी मिठास है इस तकलीफदेही में।"

"इतमीनान हुआ?"

"शक बेकार था।"

"प्रमाण की जरूरत थी !"

"विश्वास जल्दी कहाँ आता है ?"

"डिनर पर आइयेगा न ?

"आऊँगा ।"

"जरूर ?"

"जरूर ।"

"बस अब 'बोर' न करूँगी !"

"रस में 'बोरडम' ?"

"मानते हैं रस ?"

"मानता हूँ ।"

"मन से ?"

"मन से !"

"अच्छा, टा-टा !"

"टा-टा ।"

और कट गया कनेक्शन ।

रस में भीग गया फिर मन । नशा आ गया फिर जोर-शोर से ।

मुकदमे कई थे, पर मुलतवी हो गये सब । मनःस्थित कहाँ थी आज अदालतों में झाँय-झाँय करने की ? बाग में फूलों के बीच टहलते-टहलते, अध्ययन-कक्ष में आरामकुर्सी पर पड़े-पड़े दिन बीत गया । जाने कैसा-कैसा लगता रहा बराबर । एक उत्तेजना थी, एक आवेश था । एक सिहरन भरी भावना थी, कि जो मन को जाने कहाँ-कहाँ छूकर सिहरा-सिहरा दे रही थी । एक जाने कैसी प्रतीक्षा थी, कि जो अनन्त-सी लग रही थी ।

और शाम को नहा-धोकर, साफ, लक़-दक़ कपड़े पहन कर, जब वह

रवाना हुआ श्यामनारायण के घर की ओर, तो मन जैसे उड़ा जा रहा हो उसी ओर, कार से भी ज्यादा तेजी से।

स्वागत किया श्यामनारायण ने खुले दिल से। और जैसे आँखें ही बिछा दीं चन्द्रावती ने।

कोरमा, कोफ्ता, पुलाव, कबाब, खीर, वगैरा-वगैरा बहुत बढ़िया, बहुत लज़ीज़ खाना। और 'ब्लैक ऐण्ड ह्वाइट' के जाम। बेतकल्लुफ़ी, इसरार, आग्रह।

चहकते रहे बराबर श्यामनारायण। चहकता रहा बराबर अरविन्द भी। मुस्कान बिखेरती रही बराबर चन्द्रावती।

डिनर के बाद ड्राइङ्ग-रूम में जा बैठे सब। कॉफी आई, और पी गई।

अरविन्द एक एलबम उठा कर देखने लगा। चन्द्रावती सलाइयाँ चलाने लगी। सिगरेट जलाया श्यामनारायण ने, और सोफे पर पीछे उठंग कर, खींचे कई कश। ताकते रहे कई क्षण शून्य में भारी-भारी आँखों से, फिर पलकें मुँद गईं धीरे से। खर्राटे भरने लगे। जलती सिगरेट उँगलियों से छूटकर, फर्श पर जा गिरी। धीरे से उठकर, सिगरेट उठा कर थमा दी चन्द्रावती ने उँगलियों के बीच। चौंककर उठ बैठे। ऊँघते बैठे रहे थोड़ी देर तक। फिर उठकर, चले गये धीरे-धीरे बाहर। चन्द्रावती भी गई पीछे-पीछे।

दस मिनट बाद लौट कर, बोली चन्द्रावती—"सो गये बैरिस्टर साहब!...बस, यहीं तक पहुँच है उनकी!" एक व्यथा-सी गूँज गई स्वर में।

"थक गये होंगे," संवेदना के स्वर में कहा अरविन्द ने—"आराम की जरूरत होगी।" और दीर्घ निश्वास निकल गया मुख से।

"मेहनत और उम्र का तकाजा। स्वाभाविक ही है ऐसा होना।"

"हाँ, स्वाभाविक ही है ऐसा होना।...किन्तु यह अवस्था असुविधा-जनक भी हो सकती है किसी और के लिए।

"हाँ, यह भी स्वाभाविक ही है।"

"आइए, बाहर चलें।"

बाग में जाकर, दोनों टहलते रहे कुछ देर तक, और फिर बैठ गये एक बेंच।

बहुत हल्की, मीठी बयार। गुलाब की भीनी-भीनी मोहक सुगन्ध। मादक सान्निध्य!

चन्द्रावती का सुकोमल कर पहुँच गया धीरे से अरविन्द के आतुर हाथ में।

"मेरे बारे में आपने क्या राय क़ायम की?" प्रश्न किया धीरे से चन्द्रावती ने।

"आप बहुत सुन्दर हैं," अरविन्द ने उत्तर दिया स्वर में अपनत्व भर कर।

"और?"

"बहुत सुखी हैं।"

"मैं मानती हूँ, कि सुन्दरता मुझे मिली है थोड़ी-सी," प्रकम्पित स्वर में चन्द्रावती ने कहा—"और नेक और भली बनने की भी कोशिश करती हूँ। लेकिन सुखी मैं नहीं हूँ।"

"सुख के सारे सामान मौजूद हैं आपकी सेवा में। फिर भी सुखी नहीं हैं आप?"

"नहीं, सुख के सामानों के बीच भी, मैं सुखी नहीं हूँ। सुख शरीर

से अधिक मन की चीज है।...मेरा मन सुखी नहीं है।...एक ज्वाला है, जो तिल-तिल करके जला रही है मुझे अन्दर-ही-अन्दर।"

स्वर भर्रा गया, वेग से उठी हुई एक सिसकी गले में आकर घुट गई। शरीर काँपा, और चन्द्रावती का सिर टिक गया धीरे से अरविन्द के कन्धे पर। कस गईं अरविन्द की बाँहें तेजी से उठकर उसके फूल-जैसे शरीर पर।

"मैं जानती हूँ, कि मेरे मा-बाप मुझे बहुत प्यार करते थे, लेकिन मैं यह भी जानती हूँ, कि उन लोगों ने मुझे कुयें में झोंक दिया," भरे-भरे स्वर में कहती गई चन्द्रावती—"पिताजी मामूली आदमी थे, फिर भी उन्होंने मुझे बी० ए० तक पढ़ाया। लेकिन मेरी अच्छी शादी करने के लिए उनके पास पैसे न थे। परेशान घूम रहे थे दरवाजे-दरवाजे। तभी विधुर श्यामनारायण का प्रस्ताव आया। और मैं बैरिस्टर साहब के गले बाँध दी गई। मामूली घर की लड़की रानी बन गई। लेकिन रानी बन कर भी उसका मन सुखी न हुआ।...कारण स्पष्ट है। बैरिस्टर साहब को आप देख चुके हैं।...मेरी किस्मत फूट गई, अरविन्द जी, मेरी किस्मत फूट गई!"

"सचमुच बहुत बड़ी ट्रेजडी हुई आपके साथ," स्वर में अपार संवेदना भर कर, अरविन्द ने कहा।

"और इस ट्रेजडी ने गला घोंट दिया मेरे सारे अरमानों का, मेरी तमाम सुन्दर भावनाओं का।...मैं जिन्दा थी, खाती-पीती थी, पहिनती-ओढ़ती थी, सब-कुछ करती थी, लेकिन एक जड़ मशीन की तरह।"

क्षण भर मौन रह कर, दीर्घ निश्वास खींच कर, वह फिर कहने लगी—"और तब, कल आपसे भेंट हुई। और मेरी दुनिया बदल

गई।...बहार आई मेरे द्वार पर, तो मैं द्वार बन्द किये अन्दर कैसे बैठी रह सकती थी?"

"बिलकुल ऐसा ही अनुभव हुआ मुझे भी, चन्द्रा, बिलकुल ऐसा ही।...जाने कौन-सा द्वार खुल गया अन्तर का एक झटके से, कि सुख का सागर उमड़ पड़ा मन में।.. सचमुच बहार जब आये द्वार पर, तो अन्दर कैसे बैठे रहा जा सकता है, द्वार बन्द किये?" और बाँहें और कस गईं अरविन्द की गहरे आवेश के साथ।

"अगर मैं मर भी जाऊँ इस समय, तो भी मुझे जरा भी अफसोस न होगा!"

"ऐसा न कहो, चन्द्रा, ऐसा न कहो।...दुखमय अभाव के दिन बीत गये हमारे।...हम सब-कुछ पा लेंगे अब एक-दूसरे में।"

उद्दाम कामना। आवेशमय आत्म-समर्पण।

रँगीले दिन। रँगीली रातें। अपरिसीम सुख। अपरिसीम परितृप्ति।...

चन्द्रा की कार प्रायः नित्य ही आ खड़ी होती अरविन्द के बँगले के पोर्टिको में। और दोनों घंटों फूल चुनते रहते सुख की वाटिका में।

बहार झूम-झूम पड़ रही थी। पर उस व्यापक आनन्दमय वातावरण के बीच विरोध का एक स्वर उठ रहा था निरन्तर अन्तर में। जिस मार्ग का वह अनुसरण कर रहा था मदहोशी की हालत में, उसका सामंजस्य कहाँ था उन विचारों से, जिन्हें सर्वाधिक मूल्यवान ही मानता आया था वह अपने लिये? बढ़ती गई यह भावना, बढ़ती गई। और उसी मात्रा में बढ़ती गई असह्य हो-हो उठने वाली कामना, जिसका अंत दीखता न था कहीं।

और तब भयानक मानसिक ऊहापोह के बीच हाथ के काम की उचित व्यवस्था कर, वह चुपचाप चला आया था देहरादून, और दो पंक्तियों का एक पत्र छोड़ आया था चन्द्रावती के लिये।

'प्रयाग छोड़ कर देहरादून जा रहा हूँ। कारण तुम खुद सोच लेना।...'

यहाँ आकर, सहेज-सँभाल रहा था वह अपने-आपको दो मास से। इस सहेजने-सँभालने में राग के सम्मोहन का प्रभाव कम जरूर पड़ा था, पर बहुत कम।

और अब आ रही थी चन्द्रावती यहाँ भी, आँचल में बहार बाँधे।

उठकर चल पड़ा वह गुसलखाने की ओर। बहार लेकर आई थीं दो नारियाँ उसके जीवन में, रमा और चन्द्रावती। किन्तु कितना अन्तर था दोनों में। शीतल चाँदनी थी एक, तो दूसरी एक शोला, एक ज्वाला। चन्द्रा भी उसके लिये उतनी ही आवश्यक थी, जितनी रमा। किन्तु किसी-किसी चीज के आवश्यक होने ही से, क्या उसका लेना उचित ही होता है?

विकट समस्या थी, खोजने पर भी नहीं मिल रहा था जिसका हल।

नित्य-क्रियाओं से निवृत्त होकर, वह बैठा ही था चाय पीने, कि एक दूसरा तार आ गया:

'चन्द्रा वहाँ जा रही है। उसकी देख-रेख करना—श्यामनारायण।'

जरूरत नहीं थी, पर उचित ही था उनका ताकीद करना।

कितने अजीब हैं बैरिस्टर साहब। यह स्पष्ट था, कि चन्द्रा से उसकी घनिष्ठता उन्हें पसन्द नहीं थी। उनके चेहरे पर विरोध-भाव स्पष्ट अंकित दीखता था। पर मुँह से उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। किन्तु उनका मौन विरोध ही कुछ कम न था परेशान करने के लिये। कभी अनुचित नहीं

मान सका वह उनके विरोध-भाव को। कामना के प्रबल आवेग में चन्द्रा के अवेशमय स्नेह-दान की अस्वीकृति उसके वश की बात न थी। दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता उचित भी कैसे मान सकती थी अस्वीकृति को? औचित्य-अनौचित्य के इसी संघर्ष ने तो जन्म दिया था मन के ऊहापोह को। सामाजिक मर्यादाओं तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं के बीच अनिवार्य ही है संघर्ष।

यही संघर्ष तो उसे खींच लाया था यहाँ—घर से दूर। और अब यहाँ भी आ रही थी चन्द्रा। क्या अवांछनीय ही था उसका आगमन? अपने ही प्रति असत्य का व्यवहार करना होगा उसे अवांछनीय कहना। मानसिक संघर्ष के बावजूद कामना तो सिर धुनती मौजूद ही थी अन्दर। जो विशेष परिस्थितियाँ थीं चन्द्रा के और उसके अपने जीवन की, उनके सामने थोथी हो कर ही तो रह जाती थी अनौचित्य की भावना। किन्तु थोथी कहकर भी वह दूर कहाँ कर पा रहा था अनौचित्य की भावना को? बन्द कहाँ कर पा रहा था वह अन्तरात्मा की जबान?

आध-घण्टा पहले ही वह पहुँच गया स्टेशन। मालूम हुआ कि दून एक्सप्रेस एक घंटा लेट है।

घर वापस जाने को मन न हुआ। घर पर कोई जरूरी काम न था। और घर वापस जाकर प्रतीक्षा-जनित आवेश कम होने के बजाय बढ़ ही तो सकता था।

प्लैटफार्म पर बेमतलब इधर-उधर टहल कर, बुकस्टाल से ढेर-सी पत्रिकायें और सचित्र साप्ताहिक लेकर, उन्हें उलटते-पलटते डेढ़ घंटा कटा।

दून एक्सप्रेस आई। खोजने लगीं आँखें उत्सुकतापूर्वक। एक फ़र्स्ट

क्लास कम्पार्टमेन्ट के दरवाजे पर खड़ी नज़र आई चन्द्रा। वह लपका तुरन्त उस ओर।

नजरें मिलीं। मुस्कानें खिलीं चेहरों पर। हाथ का सहारा दे कर, उतारा उसने सौंदर्य की प्रतिमा को।

सामान सँभाला कुलियों ने। दोनों चल पड़े गेट की ओर, हाथ-में-हाथ दिये हुए।

"रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई?"

"बिलकुल नहीं।"

"जागना पड़ा रात भर?"

"सोती-जागती चली आई।"

स्टेशन से बाहर निकल कर, टैक्सी पर बैठ कर, चल पड़े दोनों घर की ओर।...

भोजन के बाद ड्राइङ्ग-रूम के एकान्त में बोली चन्द्रा—"मैं समझ गई थी कारण!"

चुप रहा अरविन्द। ठीक न लगा कुछ कहना, जाने क्यों।

"और इसीलिये मैं तुमसे एक बात पूछने आई हूँ।...क्या तुम मुझे मन से छोड़ कर चले आये थे?"

"नहीं।"

सन्तोष झलक आया चन्द्रावती के चेहरे पर। किंतु फिर घिर आईं घटायें।

"आखिर तुम अपने-आप से भाग क्यों रहे हो, अरविन्द?" अरविन्द के कन्धे पर सिर टेक कर, प्रश्न किया चन्द्रा ने।

"भागना चाह कर भी मैं भाग कहाँ पा रहा हूँ अपने-आप से?...

प्रेरणा देती हैं सामाजिक मर्यादायें, किन्तु मैं बिलकुल असमर्थ पाता हूँ अपने-आपको अपने-आप से भागने में।"

"सामाजिक मर्यादायें!" मन में उठी हुई कड़वाहट को दबाते हुये, चन्द्रा ने कहा—"सामाजिक मर्यादायें तो चाहती हैं, कि आदमी घुट-घुट कर मर जाय, लेकिन उस पर कृत्रिम भलमनसाहत का मुलम्मा चढ़ा ही रहे। मेरा दम घुट चुका है काफी। और अब अधिक घुटने के लिये मैं तैयार नहीं हूँ।...मैं अपने-आप से भाग नहीं सकती, अरविन्द, भाग नहीं सकती मैं अपने आप से।"

गहरे आवेश से उठ कर लिपट गयीं गले से सुकोमल, चम्पई बाँहें। बलिष्ठ भुजायें कस गईं फूल-से शरीर पर।...

बीत गये रस से छलकते तीन दिन।

अगले दिन सवेरे ही उदास-सी पास आकर बोली चन्द्रा—"लगता है, अरविन्द, कि जैसे एक व्यवधान आ गया है हमारे बीच।...भेद स्पष्ट अनुभव हो रहा है।"

चुप रहा अरविन्द।

"सच है न मेरा ख्याल?"

"सच है।...मैं इस व्यवधान को हटा देना चाहता हूँ, चन्द्रा, पर असमर्थ हूँ।"

उठ कर, चुपचाप चली गई चन्द्रा।

और जरा देर बाद जा कर देखा अरविन्द ने—असबाब बाँध रही थी चन्द्रा।

"यह क्या कर रही हो?"

"असबाब बाँध रही हूँ।"

"क्यों?"

"अब जाऊँगी।"

"कहाँ?"

"कहीं भी।"

"आखिर कहाँ?"

"दिल्ली, बंबई, कलकत्ता—कहीं भी।" फिर दीर्घ निश्वास खींच कर बोली—"सोचती हूँ, कि तुम्हारी तरह कुछ दिन एकांत में मैं भी सोच-विचार करूँ।"

"एकान्त तो तुम्हें घर पर भी मिल सकता है।"

"घर पर?...लेकिन घर तो काटने को दौड़ता है।"

"घर फिर भी घर ही है।...अच्छा हो, बुरा हो, पर घर घर है।"

"तो घर ही चली जाऊँगी।"

और फिर जरा देर बाद अरविन्द का सामान भी बँधते देख कर, बोली चन्द्रा—"तुम कहाँ जाओगे?"

"तुम्हारे साथ।"

"क्यों?"

"इस मन:स्थिति में तुम्हें अकेली नहीं जाने दे सकता।"

"क्या मैं नादान हूँ?"

"नहीं, तुम नादान नहीं हो।...मैं तुम्हें किसी से भी कम समझदार नहीं मानता। लेकिन मैं जानता हूँ, कि यह मन:स्थिति तुम्हें गलत रास्ते पर भी ले जा सकती है।"

चुप रही चन्द्रा। सख्त बनना चाह कर भी वह सख्त कैसे बन सकती है अरविन्द से?

और प्रयाग रवाना हो गए दोनों साथ-साथ।

पास ही रहे दोनों रास्ते में। किन्तु जैसे एक व्यवधान पड़ा था बीच में, जो दबा रहा था, मसोस रहा था दोनों के मन को।...

चन्द्रा को सकुशल घर पहुँचा कर, हँस कर, बोला अरविन्द श्यामनारायण से—"आपकी धरोहर आपको सौंपने आया था, बैरिस्टर साहब!"

"धन्यवाद!" विहँस कर श्यामनारायण ने कहा—"आपसे मुझे ऐसी ही आशा थी।...आइये, बैठिये।"

"नहीं, चलूँगा अब।"

"जरा देर बैठकर जाइयेगा।...आइये, आइये।" और दोनों व्यक्ति जा बैठे ड्राइंग-रूम में।

"आपसे एक अनुरोध करना चाहता हूँ, अरविन्दजी," स्वर में आग्रह भर कर श्यामनारायण ने कहा—"अब आप कहीं न जाइये—यहीं रहिये।"

चुप रहा अरविन्द।

"मैं जानता हूँ, कि आप क्यों चले गये थे यहाँ से। और मैं आपकी सदाशयता की क़द्र करता हूँ।"

चुप रहा फिर अरविन्द।

"मैं अन्धकार में नहीं हूँ, अरविन्द जी। और मैं पत्थर भी नहीं हूँ...। लेकिन मैं शान्ति चाहता हूँ। मैं हर हालत में शान्ति चाहता हूँ।...और मैं चन्द्रा को सुखी ही देखना चाहता हूँ।"

फिर भी चुप ही रहा अरविन्द।

"बोलिये, अरविन्द जी, क्या कहते हैं?"

"सोच कर बताऊँगा।"

"मुझे विश्वास है, कि आप मेरी भावनाओं की क़द्र करेंगे।"....

और दो घण्टे बाद अरविन्द के घर के एकांत में बोली चन्द्रा अनुनय-भरे स्वर में—"अधिक सोच-विचार न करो, अरविन्द।...अब कहीं न जाओ। रहो यहीं।"

"क्या अपने ही को छलना न होगा यहाँ रहना?"

"मन से मानते हो ऐसा?"

"नहीं।"

"तो निराधार है यह अड़चन।"

"और समाज के प्रति विश्वासघात?"

"पुरानी लकीर पीटते रहना ही क्या समाज के प्रति वफादारी है?"

"एक रास्ता और है।"

"क्या?"

"अदालत।"

"अदालत बैरिस्टर साहब जाना चाहें तो जायें, मैं नहीं जाना चाहती।" फिर क्षण भर रुक कर बोली—"मेरे प्रति बहुत बड़ा अन्याय किया है बैरिस्टर साहब ने। पर न जाने क्यों मुझे बड़ी दया आती है उन पर।...वह तोड़ें, तो तोड़ें, मैं उनका दिल नहीं तोड़ना चाहती।"

चुप रहा अरविन्द।

"बोलो!"

"रहूँगा यहीं।...कैसे—तोड़ सकता हूँ मैं—तुम्हारा दिल?"

"उबार लिया तुमने मुझे!"

और गहरे आवेश से उठ कर, लिपट गईं गले से सुकोकल चम्पई बाँहें। सबल भुजाएँ बँध गईं फूल से शरीर पर।

● ● ●

आहुति

सामने दीवार पर लगा कद्दे-आदम आईना यह कैसी तस्वीर पेश कर रहा है ? बिखरे हुए बाल, अस्त-व्यस्त वस्त्र, सूखा-उतरा चेहरा, छलछलाती आँखें ! यह कैसी सूरत बना रक्खी है तूने, अर्चना ? यदि कोई इस समय तुझे देख ले, तो क्या सोचे ? यही न कि एक वीर पति की पत्नी हो कर भी दुर्बलता से तू मुक्त नहीं हो सकी ? शोभा देता है तुझे यह ? गनीमत है, कि यहाँ तेरे इस सूने शयन-कक्ष के निबिड़ एकान्त में कोई हाड़-मांस वाला दर्शक नहीं। किन्तु वह तो यहाँ है ही, जो सर्वव्यापी है, जो सर्वत्र निवास करता है, जो सात पर्तों में छिपा रह कर भी सब का सब-कुछ देख लेता है।

दीर्घ निःश्वास खींच कर, आँखें पोंछ कर, पलँग से उतर कर, अर्चना एक आरामकुर्सी पर बैठ गयी। सुन्दर, शानदार कोठी है, ऐश-आराम के सारे

सामान हैं, मानने वाले सास-श्वसुर हैं। सब-कुछ है, सब-कुछ है, फिर भी जैसे कुछ नहीं है। बात यह है, कि उसके मन का मीत, उसके प्राणों में रमने वाला, उसके विचारों में बसने वाला, उसका हृदयेश्वर उसके निकट नहीं। वह चाहती है, कि वह सदैव उसके निकट रहे। फिर भी ऐसा नहीं हो पाता, नहीं हो पाता। कारण यह है, कि वह प्रेमी पति ही नहीं महान देशभक्त भी है। देशभक्त, यानी विद्रोही, यानी सरकार का दुश्मन। उसने विदेशी सरकार को उलट देने का, दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए स्वदेश को स्वतंत्र करने का बीड़ा उठाया है। और विदेशी सरकार उसके पीछे पड़ गयी है।

एक महीने की रिहाई, और फिर जेल। चन्द दिनों की हँसी-खुशी, और फिर वही कोफ्त, वही कुढ़न, वही रंज! यह रोज-रोज का जेल जाना! एक आफत, एक मुसीबत है यह, और जैसे हमेशा-हमेशा के लिए गले पड़ गयी है। जैसे कभी इससे पिंड छूटने का नहीं। आफत, मुसीबत? ऐसा कह सकती है वह उनके सामने? नहीं, नहीं, नहीं! और वास्तव में वह ऐसा समझती भी नहीं, मानती भी नहीं। ऐसा समझना एक गुनाह है, पाप है। यह तो कमजोरी का एक दौर था। आखिर वह भी मनुष्य ही तो है, और मनुष्य में कमजोरियाँ होती ही हैं। किन्तु वह कमजोरियों को प्रोत्साहन देना नहीं चाहती, उससे निरंतर लड़ती रहना चाहती है। जेल को मुसीबत कभी नहीं समझा उन्होंने, फिर वह कैसे समझ सकती है?

एक दिन कहा था उन्होंने—"अर्चना, जब मैं लड़ता रहता हूँ, तब अनुभव करता हूँ, कि जी रहा हूँ। और जब युद्ध-क्षेत्र में नहीं रहता, तो लगता है कि मुर्दा हो रहा हूँ। युद्ध, युद्ध! हमें युद्ध करते ही रहना होगा, जब तक हम मंजिल पर पहुँच न जाएँ, जब तक भारत

आजाद न हो जाए !" और उस समय अनुभव किया था उसने, जैसे बिजलियाँ कौंध रही हों जोर-शोर से उनके अन्दर।

जैसे आग के पुतले हों वे, जीते-जागते 'डायनमो' हों। जब मंच पर चढ़ कर बोलने को खड़े होते हैं, तो वह सन्नाटा छा जाता है, जो तूफान आने से पहले वायुमंडल में व्याप्त हो जाता है। और जब बोलने लगते हैं, तो तूफानी बादलों का गम्भीर गर्जन होता है, क्रान्ति की हुंकार होती है उनके स्वर में। जब जिधर चल पड़ते हैं, तब उधर हजारों-लाखों व्यक्ति बिना परिणाम की चिन्ता किये चल पड़ते हैं। जिधर इशारा करते हैं, उधर हजारों-लाखों व्यक्ति बिना किसी सोच-विचार के दौड़ पड़ते हैं। जब ललकारते हैं, तो शत्रु काँप-काँप उठता है। मूर्दों में जान डाल देने की, जड़ में चेतना भर देने की, कोटि-कोटि मानवों की सोयी शक्तियों को खड़खड़ा कर जगा देने की शक्ति है उनमें। जनता का जोश सोडा वाटर की बोतलों के उफान की तरह होता है—उठा और गायब हो गया। किन्तु जनता का जोश कितना भी ठण्डा क्यों न पड़ गया हो, और सरकार ने उन्हें कितने ही दिनों तक जेल में क्यों न बन्द रक्खा हो, वे जेल से निकले नहीं, जनता ने उन्हें देखा नहीं, सुना नहीं, कि फिर जोश से उन्मत्त हो उठी। यह सब अतिशयोक्ति नहीं, सत्य है, अक्षरशः सत्य। उसने अपनी आँखों से देखा है यह सब। उनके विशाल व्यक्तित्व में दुर्बलता नाम की चीज जरा भी नहीं है। उन्हें चिढ़ है दुर्बलता से।

ऐसे बड़े घर की बहू और ऐसे वीर पति की पत्नी होने की जिम्मेदारियों से वह अच्छी तरह परिचित है, और उनका निर्वाह असाधारण योग्यता से करती है। मायके के साधारण वातावरण से ससुराल के ऐश्वर्यमय वातावरण में पहुँच कर, वह उसमें इस तरह घुल-मिल गयी,

वहाँ के सब-कुछ को उसने इतनी सहज स्वभाविकता से अपना लिया, कि लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, और स्वयं उसे भी कम आश्चर्य नहीं हुआ। अमीर, सुसंस्कृत श्वसुर ने विलायत से बैरिस्टर बनकर लौटे हुए अपने प्रिय पुत्र के लिए सैकड़ों सजातीय लड़कियों में से उसे चुना था, और उन्हें संतोष हुआ कि उनका चुनाव गलत नहीं रहा। प्रत्येक वातावरण के अनुरूप अपने को बना लेने, और किसी भी वस्तु को कम या अधिक महत्व न देने की उसमें जो स्वाभाविक क्षमता थी, उसी से शायद उसका ससुराल के योग्य बन सकना सम्भव हो सका।

मा कहा करती थीं, कि सच्चे मन से पति की सेवा करना और उसके साथ पूर्ण रूप से सहयोग करना नारी का परम धर्म है। सो इसी आदर्श के अनुसार चलने का वह प्रयास करती थी। ससुराल आकर उसने शीघ्र ही उनकी रुचियाँ, अरुचियाँ जान लीं, और उन्हें प्रसन्न रखने और आराम पहुँचाने की पूरी-पूरी कोशिश करने लगी। सहयोग उसने उनके साथ इतना किया, कि वह उनसे पूरी तरह घुल-मिल गयी, और उसके व्यक्तित्व पर, उसके विचारों और भावनाओं पर उनके व्यक्तित्व का, उनके विचारों और भावनाओं का गहरा प्रभाव पड़ गया। राजनीति के क्षेत्र में भी वह उनसे पूर्ण रूपेण सहयोग करना चाहती थी, पर यह सम्भव न था। इसका कारण था।

स्वास्थ्यप्रद वातावरण में रहते हुए और हर प्रकार के सुख से घिरी रहने पर भी वह कभी पूर्णतया हृष्ट-पुष्ट नहीं हो सकी। अकसर कोई-न-कोई तकलीफ उसे हो जाती थी। विवाह के दो वर्ष बाद उसके एक बेटी हुई थी, जो अब काफी बड़ी हो गयी है और अपने प्यारे बोलों से घर के वातावरण में मिठास घोलती रहती है। साधना के जन्म के दस वर्ष बाद उसके एक अठवाँसा बेटा हुआ था। वह जीवित नहीं रहा।

और अर्चना का स्वास्थ्य भी हमेशा के लिए चौपट हो गया। प्रसव के बाद ही उसे ज्वर हो आया। वह ज्वर किसी तरह उतरने का नाम ही न लेता था। धीरे-धीरे वह सूतिका ज्वर टी० बी० में परिणत हो गया। भारत के बड़े-से-बड़े डाक्टरों ने महीनों उसका इलाज किया, पर वे उसे अच्छी नहीं कर सके। तब वह पति के साथ इलाज के लिए योरप गयी। जर्मनी के ब्लैक फारेस्ट स्थित एक सैनेटोरियम (आरोग्य सदन) में वह दाखिल हुई। वहाँ छः महीने तक उसका इलाज होता रहा। तब जाकर वह रोगमुक्त हुई। उसे विदा देते समय सैनेटोरियम के प्रधान डाक्टर फ्रैंज हैनसेन ने कहा—"फ्राव अर्चना, अब तुम ठीक हो गयी हो। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता, कि तुम हमेशा ठीक ही रहोगी। क्षय रोग बड़ा अजीब रोग है। यह चोर रोग है। यह कब, कैसे मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाता है, इसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि यह अधिकतर अन्य रोगों की आड़ में आता है। इससे बचने का एकमात्र उपाय यही है, कि अपने अन्दर जीवनी-शक्ति संतुलित रक्खी जाए। इसलिए तुम्हें हमेशा स्वस्थ रहने की पूरी कोशिश करते रहना चाहिए।" और तब से वह अपने स्वास्थ्य के संबंध में विशेष सावधानी बरतती आ रही है।

यही कारण था कि उसके पति उसे राजनीतिक कार्यों में पड़ने की आज्ञा नहीं देते थे। लेकिन एक बार उसके बहुत कहने पर उन्होंने आज्ञा दे ही दी। कितनी प्रसन्न हुई थी वह आज्ञा पाकर। महीनों उसने जोर-शोर से प्रचार-कार्य किया। नगर के हर मुहल्ले में जा कर उसने महिलाओं की सभाएँ कीं, और चर्खा समितियाँ स्थापित करायीं। उसके सतत प्रयत्नों के फल-स्वरूप महिलाएँ परदे से निकल कर अधिकाधिक संख्या में राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगीं।

महिलाओं के सम्मिलित होने से आन्दोलन में नयी स्फूर्ति आ गयी, नया उत्साह आ गया। और सरकार के हाथ-पाँव फूल गये। सो एक सार्वजनिक सभा में आपत्तिजनक भाषण करने के अपराध में वह गिरफ्तार कर ली गयी। मुकदमे का ढोंग हुआ, और उसे साल भर की सादी कैद की सजा दे दी गयी। जेल में भी वह अपने स्वास्थ्य के संबंध में पूर्ण सावधानी बरतती रही। किन्तु उसके लाख प्रयत्न करने पर भी जेल के कठोर जीवन का उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। उसका स्वास्थ्य गिरने लगा, और फिर उसे ज्वर आ गया। धीरे-धीरे उसकी हालत इतनी खराब हो गई, कि मजबूर होकर सरकार को उसकी सजा की अवधि पूरी होने से बहुत पहले ही उसे रिहा कर देना पड़ा। जेल से छूटने के बाद कई नामी डाक्टरों द्वारा उसकी परीक्षा करायी गयी। अच्छी तरह से जाँच करने के बाद डाक्टर इस निर्णय पर पहुँचे, कि उसके अन्दर टी० बी० का फिर उभार आ गया है। तब तुरन्त डाक्टर हैनसेन को तार दिया गया, और उनके आदेशानुसार इलाज शुरू हुआ। इस तरह कई महीने तक पूर्ण सावधानी से इलाज होने पर वह पुनः रोगमुक्त हो सकी।

बस, तभी उसके राजनीतिक जीवन का अन्त हो गया। उसके श्वसुर और पति, दोनों ने एकमत से निर्णय दे दिया, कि उसे अब कभी राजनीतिक कार्यों में न पड़ना चाहिए। काश, कि वह जेल के कठोर जीवन को बर्दाश्त कर पाती, और उसके अन्दर टी० बी० का पुनः उभार न हुआ होता! काश, कि उसके राजनीतिक जीवन का अन्त न होता! काश, कि वह यह संतोष लाभ कर पाती, कि राजनीतिक क्षेत्र में भी वह अपने प्रिय पति के साथ पूर्ण सहयोग कर सकी, उनका पदानुसरण करती रह सकी!

यह अप्रिय अकर्मण्यता ! कोई काम ही नहीं है उसके लिए। बस, खाओ-पिओ, और पड़ी रहो घर में। यह तो गनीमत है, कि उसे पढ़ने का शौक है, और घर में पुस्तकों से ठसाठस भरा हुआ उनका पुस्तकालय है, नहीं तो यह अकर्मण्यता ही दुशवार कर देती उसका जीना। फिर भी मनोरंजन के इस साधन से उस अभाव की पूर्ति तो हो नहीं सकती, जो पति की अनुपस्थिति के कारण आ जाता है उसके जीवन में। एक कुढ़न, एक घुटन बनी रहती है हर समय मन में इस अभाव के कारण। वह जानती है, कि यह उसकी एक कमजोरी है, और इसे दूर करने की हर समय कोशिश करती रहती है, लेकिन यह दूर नहीं होती किसी तरह। उसकी इस कमजोरी की बात कोई नहीं जानता। किसी के सामने वह इसे प्रकट नहीं होने दे सकती, उनके सामने भी नहीं, क्योंकि इससे उन्हें दुख होगा, और शायद वह उनकी नजर में गिर जाएगी।

साधना उसकी प्रिय पुत्री है, एकमात्र संतान है। फिर भी वह उसे अधिक-से-अधिक अपने से दूर ही रखना चाहती है, इसलिए कि वह मन के गहरे मोह को कम करना चाहती है, इसलिए कि वह नहीं चाहती कि जो भयानक रोग उसके अन्दर जड़ पकड़ गया है, उसका बीजारोपण उसके अन्दर भी हो जाए। इसमें कोई कठिनाई नहीं होती। बड़े घर में अपने बच्चों को आसानी से अपने से दूर रखा जा सकता है। लेकिन साधना जब उसके निकट आना चाहती है, तो आ ही जाती है। कोई तब उसे रोक नहीं सकता। बड़े बाप की बेटी है साधना, सो उसका दिमाग अभी से काफी तेज है। उसकी बातें उसे बहुत अच्छी लगती हैं, लेकिन कभी-कभी वह परेशान हो उठती है।

अभी उस दिन उसने कहा—"पापा कब आएँगे, ममी ?"

"आ जाएँगे कभी," उसने उत्तर दिया।

"कभी कब ?"

"जब आ सकेंगे, तो आ जाएँगे, बेटी।"

"नहीं, उन्हें लिख दो, ममी, कि जल्दी ही आ जाएँ। उनके बगैर मुझे अच्छा नहीं लगता।"

"मेरे लिखने से कुछ न होगा," उसने स्पष्टतापूर्वक उत्तर दिया, क्योंकि इस सम्बन्ध में साधना से कुछ छिपाया नहीं जा सकता।

"क्यों न होगा कुछ तुम्हारे लिखने से ?"

"इसलिए कि पापा अपने मन से घर नहीं आ सकते। कैद की मियाद पूरी होने पर ही आ सकते हैं।"

"किसने कैद कर रखा है उन्हें ?"

"अँगरेज सरकार ने। दस बार तो बता चुकी हूँ तुझे।"

साधना कुछ देर चुपचाप सोचती रही। फिर उसने गम्भीरतापूर्वक सिर हिलाते हुए कहा—"ममी, चलो, हम तुम अँगरेज सरकार से लड़ कर पापा को छुड़ा लाएँ !"

उसे हँसी आ गयी। तब नन्ही साधना को हृदय से लगा कर, उसने उसे समझाया कि वे दोनों अँगरेज सरकार से लड़ कर पापा को छुड़ा नहीं सकतीं, कि शान्तिमय उपायों से ही विदेशी सरकार से जम कर लड़ा जा सकता है, कि बापू के नेतृत्व में शान्तिमय युद्ध चल रहा है समस्त देश में, और उसी के सिलसिले में पापा को बार-बार जेल जाना पड़ रहा है, कि स्वराज हो जाने पर पापा को जेल जाना न पड़ेगा, और वे घर पर रह सकेंगे।

"तो स्वराज कब होगा, ममी ?"

"जब आजादी की लड़ाई में हमारी जीत हो जायगी, और अँगरेज सरकार हार मान लेगी।"

"तो फिर हमें जोर से लड़ना चाहिए।"

'हाँ, हाँ, हमें जोर से लड़ना चाहिए, और हम लड़ भी रहे हैं जोर से। लेकिन अँगरेज सरकार को हराना आसान काम नहीं है। हमारी जीत जरूर होगी, लेकिन इसमें बहुत समय लगेगा।"

साधना को सन्तोष नहीं हुआ। वह बहस करती ही गयी। बड़ी कठिनाई से अर्चना समाप्त कर पायी उस अप्रिय प्रसंग को। खीझ भर उठी उसके मन में। अपनी विवशता, अपनी मजबूरी हजार गुना बढ़ कर आ खड़ी हुई सामने।...

स्वास्थ्य उसका आजकल फिर गिरता-सा जान पड़ता है। स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बराबर पूर्ण सावधानी बरतने पर भी स्वस्थता अनुभव नहीं होती उसे। शरीर भारी-भारी-सा रहता है, और कभी-कभी ज्वर-भाव-सा अनुभव होता है। ऐसा क्यों है? क्या इसके मूल में भी वही अभाव है?

अकसर मन में आशंका उठती है, कि कहीं टी० बी० का उभार फिर न हो रहा हो उसके अन्दर। यदि ऐसा हुआ, तो बहुत बुरा होगा, बहुत बुरा।

वह जानती है, कि रोग कितनी बुरी चीज है। इससे रोगी को ही नहीं, उसके घर वालों को भी कष्ट होता है। लेकिन कोई जान-बूझ कर तो बीमार पड़ता नहीं। रोगी इस संबंध में पूर्णतया विवश होता है। इसलिए रोगियों के लिए उसके मन में गहरी ममता है, करुणा है। इसी-लिए उसने कांग्रेस की ओर से एक अस्पताल खोल रक्खा है, जिसमें रोगियों का मुफ्त इलाज होता है। उसके लिए उसने इतना चन्दा इकट्ठा कर दिया है, कि वह वर्षों मजे में चलता रह सकता है। उसके लिए वह ऐसी व्यवस्था कर देना चाहती है, कि वह हमेशा-हमेशा मजे में चलता रहे।....

आशंका सत्य निकली उसकी। टी० बी० का फिर उभार हो रहा है उसके अन्दर। कैसे दुर्भाग्य की बात है।

पति और श्वसुर, दोनों जेल में हैं, और वहाँ का कठोर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। घर का आराम उसे उपलब्ध है, फिर भी उन लोगों के लिए वह चिन्ता का विषय बन रही है। कैसी निकम्मी है वह!

दोष किसका है इसमें? अपनी इच्छा से तो वह रोगिणी बनी नहीं। पूर्ण सावधानी बरतने पर भी वह स्वस्थ नहीं रह सकी। ऐसा क्यों हुआ? पूर्ण सावधानी बरतने पर भी मनुष्य बीमार क्यों पड़ जाता है? उसकी यह असमर्थता क्यों? कौन जिम्मेदार है इसके लिए?

चिन्ता से भरा पत्र आया है उनका भी, श्वसुर जी का भी। खुद परेशान हो उठे हैं, पर उसे परेशान न होने की सलाह दी है दोनों व्यक्तियों ने। श्वसुर जी ने उसके इलाज का प्रबंध करा दिया है जेल के अन्दर से ही। जेल के अन्दर से भी वे अपने आवश्यक निजी कामों का इन्तजाम करा लेते हैं।

इलाज हो रहा है। काश, कि वह अच्छी हो जाए शीघ्र ही, कि चिन्तामुक्त हो सकें उसके प्रिय जन!...

हवाई जहाज चार्टर हो गया है। वह योरप जा रही है इलाज के लिए। साथ में एक डाक्टर जाएगा, जो उसे सैनेटोरियम में दाखिल करा देने के बाद वापस लौट आएगा।

बम्बई होकर वह योरप जायगी। गांधी जी आजकल जेल से बाहर हैं। वहाँ वह उनसे भेंट करेगी।...

जर्मनी के ब्लैक फारेस्ट में स्थित वही सुपरिचित सैनेटोरियम है,

जहाँ बहुत वर्ष पहले वह रह चुकी है। एक प्राइवेट वार्ड में वह रखी गयी है। इलाज हो रहा है।

सैनेटोरियम के प्रधान अब भी डाक्टर फ्रैंज हैनसेन ही हैं। उम्र ढल रही है, पर अब भी वैसे ही तगड़े और स्वस्थ हैं। चेहरे पर अब भी वैसा ही तेज बरसता है। अपने पेशे के अनुरूप गम्भीरता व्यक्त रहती है उनके चेहरे पर। लेकिन मरीज के पास पहुँचते ही उनकी गम्भीरता पिघल कर परिणत हो जाती है करुणा का छोर छूती हुई कोमलता में, जो आश्वस्त कर देती है मरीज को। उसके प्रति विशेष स्नेह-भाव प्रकट करते हैं डाक्टर हैनसेन, शायद इसलिए कि वह नारी है। या और कोई कारण हो शायद।

डाक्टर हैनसेन कहते हैं, कि रोग घटने लगा है उसका। उसे भी ऐसा ही लगता है।

बम्बई के सैंटा क्रुज हवाई अड्डे पर बापू आये थे उससे मिलने के लिए। बड़े स्नेह से उसके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने के बाद बोले—"तुम योरप जा रही हो। वहाँ तुम्हें अपने प्रिय जनों से दूर रहना पड़ेगा। लेकिन तुम कभी एक क्षण के लिए भी यह न समझना, कि तुम अकेली हो। तुम हमेशा-हमेशा यही समझना, बेटी अर्चना, कि तुम्हारे पति, तुम्हारे ससुर, मैं, और तुम्हारे करोड़ों देशवासी तुम्हारे साथ हैं। किसी तरह की कोई कमजोरी कभी मन में न आने देना। इससे अपने रोग से लड़ने में तुम्हें सहायता मिलेगी, और तुम शीघ्र ही चंगी होकर अपनों के बीच लौट आओगी।" और परम स्नेह से वे उसके सिर पर हाथ फेरने लगे थे।

और आँखें मूँद कर उसने कहा था—"आपका आशीर्वाद मेरे साथ रहेगा, तो मुझे कभी किसी चीज की कमी महसूस न होगी।"

"मेरा आशीर्वाद हमेशा-हमेशा तुम्हारे साथ रहेगा, ऐसा मुझे विश्वास है।" और वे चुप होकर जैसे उसे मौन आशीर्वाद देने लगे, उसके लिए मौन प्रार्थना करने लगे।

कुछ देर तक अमृतमय शान्ति छायी रही। फिर बापू ने कहा—"तुम्हें कुछ और कहना है मुझ से?"

और तब उसने उनसे वह बात कही, जिसे कहने का घर से इरादा करके चली थी—"मैंने एक अस्पताल कायम किया है, बापू। मुझे इस समय केवल उसी की फिक्र है। मैं चाहती हूँ, कि वह बराबर चलता रहे। मैं चाहती हूँ, कि आपका आशीर्वाद उसे भी प्राप्त हो।"

"तुम उसकी तनिक भी चिन्ता न करो, बेटी। वह बराबर चलता रहेगा। मैं उसका ख्याल रखूँगा।"

और उसे फिर-फिर आशीर्वाद दे कर, बापू चले गये थे।

कितनी शक्ति प्राप्त हुई थी उसे पूज्य बापू से इस जरा देर की भेंट से ही! कितना अच्छा लग रहा था, जब बापू उसके सिर पर हाथ फेर रहे थे! लग रहा था, जैसे स्वर्गिक शान्ति की लहरें दौड़ रही हों सारे शरीर में! बापू! पूज्य बापू!

रोग काफी घट गया है। डाक्टर हैनसेन का ख्याल है, कि यदि रोग इसी गति से घटता गया, तो वह महीने, दो महीने में रोगमुक्त हो जाएगी। डाक्टर हैनसेन की राय ठीक मालूम होती है। ज्वर अब घट कर ९९° के आस-पास रहता है। खाँसी भी अब बहुत कम आती है। जी भी हल्का रहता है।

कब पहुँचेगी हमारी आजादी की लड़ाई विजय की मंजिल तक? कब चालीस करोड़ भारतवासी आजाद इनसानों की तरह दुनिया के सामने

सिर ऊँचा करके खड़े हो सकेंगे? कब आएगी आजादी? कब होगा स्वराज ?...

पत्र आते रहते हैं प्रिय जनों के। उनके भी आ चुके हैं कई प्यार-भरे पत्र। उनके पत्र वह बार-बार पढ़ती है, और हर बार उसे शान्ति मिलती है अपरिसीम।

रोग घटता जा रहा है तेजी से।

उन्हें साल भर की सजा हुई है। जब तक वे रिहा होंगे, तब तक शायद वह भी पहुँच जाएगी घर चंगी हो कर। जब उनसे भेंट होगी, तो वह बहस करेगी उनसे डटकर। कहेगी वह कि जब जेल से बाहर रह कर भी वह चंगी नहीं रह सकी, तो राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने और जेल जाने में हर्ज क्या है। इस दलील का कोई माक़ूल जवाब वे न दे सकेंगे। तब मजबूर हो कर उन्हें आज्ञा देनी ही पड़ेगी। और तब वह भाग लेगी आन्दोलन में जोर-शोर से, और जेल जाएगी। जेल के कठोर जीवन को बर्दाश्त न कर पाने के कारण यदि बीमार पड़ कर वह मर भी जाएगी, तो कुछ बुरा न होगा। उसे यह सन्तोष तो हो जाएगा, कि स्वदेश की स्वतंत्रता के महायज्ञ में उसने अपने प्राणों की आहुति चढ़ा दी! यह रह-रह कर बीमार पड़ जाना, यह एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर जीना भी क्या जीना है!

आज तबीयत बहुत हलकी लग रही है। लगता है, कि जैसे वह रोग-मुक्त हो गयी हो। बड़ा अच्छा लग रहा है।

स्मृतियाँ आ रही हैं मायके की, ससुराल की, उनकी।

उनका अपरिसीम प्यार, कि जिसे पाकर धन्य हो गयी वह।

संध्या की छायाएँ घिर आयी हैं। बत्ती जल गयी है कमरे की।

बड़ा अच्छा लग रहा है। स्वप्निल-सा होता जा रहा है सारा वातावरण।

यह प्रकाश कैसा है, जो फूट रहा है क्षितिज के पूर्वीय अंचल में, जिसकी किरणें फैलती जा रही हैं चारों ओर? और एक विशाल जलूस चला जा रहा है—उसकी ओर। जलूस के आगे-आगे हैं गांधी जी और उनके प्रधान साथी, जिनमें अग्रगण्य हैं उसके पति। जलूस नारे लगा रहा है, "स्वराज्य हो गया! भारतमाता की जय!" तो स्वराज्य हो गया? आहा!

और धीरे से निकल गया उसके मुख से भी—"स्वराज्य हो गया! भारतमाता की जय!"

यह अंधकार क्यों घिरता आ रहा है चारों ओर?

यह खुल गया अंधकार का एक गर्त, जिसमें धँसती जा रही है, धँसती जा रही है वह। यह क्या हो रहा है? वह कहाँ जा रही है? घुप अंधकार!...

थोड़ी देर बाद नर्स दवा की ट्रे ले कर आयी, तो देखती रह गयी क्षण भर रोग-शय्या की ओर। फिर ट्रे मेज पर रखकर, वह भागी कमरे के बाहर।

और आ गये जरा देर में डाक्टर फ्रैंज हैनसेन दो अन्य डाक्टरों के साथ। डाक्टर हैनसेन ने ध्यान से देखा अर्चना के चेहरे की ओर, फिर स्टेथस्कोप से परीक्षा की। और फिर स्टेथस्कोप की खूटियाँ, कान से निकाल कर, खेदपूर्वक बोले—"सब समाप्त हो गया! खत्म हो गयी बेचारी फ्राव अर्चना! हे ईश्वर!"

गहन अवसाद छा गया उनके चेहरे पर।

सेठजी

बर्छियाँ चल रही हैं सेठ धर्मदास के सीने पर। दिल बैठा जा रहा है। गहन विषाद में डूबे बैठे हैं आरामकुरसी पर। जवान बेटा सामने रोग-शय्या पर पड़ा है। टी० बी० का आख़िरी दौर है। फेफड़े आक्रांत हैं। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान सब-कुछ करके हार गया। इलाज जारी है, लेकिन मर्ज लाइ-लाज साबित हो रहा है। सूख कर काँटा हो गया है रतन। शरीर में मांस का कहीं पता नहीं। खाल से ढका हड्डियों का ढाँचा भर रह गया है।

डाक्टर के शब्द गूँज रहे हैं सेठजी के कानों में—"मैं आपको धोखे में नहीं रखना चाहता, सेठजी। हम जो कुछ कर सकते हैं, कर रहे हैं। लेकिन—"डाक्टर ने आगे कुछ नहीं कहा। आगे कुछ कहने की जरूरत भी नहीं थी। डाक्टर ने जो इशारा किया, जो कुछ अनकहा छोड़ दिया, उससे

उनके मन में लुके-छिपे सन्देह की पुष्टि हां तो हुई । किन्तु इस पुष्टि को भी अन्तिम शब्द मान लेने को जी नहीं चाहता । आशा मनुष्य का अन्तिम साँस तक साथ नहीं छोड़ती । दब जाती है, पर मरती नहीं । टी० बी० के मरीज क्या अच्छे ही नहीं होते ? अच्छे क्यों नहीं होते ? कितने ही अच्छे हो जाते हैं । अपनी-अपनी किस्मत है । हयात शर्त है । हयात होती है, जो मरीज लोट-पोट कर अच्छा ही हो जाता है । हयात नहीं होती, तो अमृत भी बेकार साबित होता है । तो क्या रतन की हयात खता कर के ही रहेगी ? क्या बेटा बाप का साथ छोड़ ही देगा ? कौन जाने ?

आँखें भर आईं । रूमाल से आँखें पोंछ कर, दीर्घ निश्वास खींचा सेठजी ने ।

दीवार-घड़ी ने टन-टन छः बजाये । दवा की ट्रे लिये हुए, नर्स कमरे में आई, और रोग-शय्या के पास आ खड़ी हुई ।

रतन आँखें बन्द किये पड़ा था । शायद सो रहा था ।

"रतन जी !" नर्स ने महीन, सुरीली आवाज में कहा ।

रतन उसी तरह आँखें बन्द किये पड़ा रहा ।

"रतन ! बेटा रतन!"—सेठ जी ने पुकारा ।

रतन ने आँखें खोल दीं ।

"दवा पी लो, बेटा ।"

रतन ने चुपचाप मुख खोल दिया । नर्स ने दवा पिलाई, पानी पिलाया, और मुँह पोंछ दिया रूमाल से । फिर वह ट्रे लिये हुए, कमरे से बाहर चली गई ।

तीन नर्सें दिन-रात बारी-बारी से रतन की परिचर्या करती हैं । नर्सों

से बढ़ कर रोगी की देख-भाल कौन कर सकता है ? कुछ उठा नहीं रखा जा रहा है। रुपया पानी की तरह बह रहा है।

"पिता जी !" रतन ने क्षीण स्वर में कहा।

"हाँ, बेटा," उठ बैठे आरामकुरसी पर सेठ जी, और उत्सुक भाव से देखने लगे रतन की ओर।

"अब मैं दवा न पियूँगा।"

जी धक-से हो गया। पूछा डरते-डरते—"क्यों, बेटा ?"

"जी ऊब गया दवा पीते-पीते।"

शान्ति मिली। वह बात नहीं, जिसका भय लगा था। बोले—"दवा न पिओगे, तो काम कैसे चलेगा ? दवा बग़ैर मर्ज कहाँ अच्छा होता है ?"

रतन चुप रह गया।

ठीक कहता है रतन। लम्बे अरसे तक दवा पीते-पीते मरीज का जी ऊब जाता है। और जायका भी कितना खराब होता है एलोपैथी की दवाओं का—कड़वा, कसैला और जाने कैसा-कैसा। लेकिन जायका कैसा भी हो, दवा तो पीनी ही होगी। मर्ज चाहे जो कहे, इलाज तो जारी ही रहेगा।

"पिता जी !"

"बेटा !"

"हम योरप कब चलेंगे ?"

"बहुत जल्दी, बेटा। मैंने हवाई जहाज चार्टर कर लिया है। सारा इन्तजाम हो गया है। बस, तुम्हारी तबीयत सँभल जाय, तो हम रवाना हो जायँ।"

"योरप में टी० बी० का इलाज अच्छा होता है, पिता जी ?"

"बहुत अच्छा, बेटा, बहुत अच्छा। वहाँ बहुत बड़े-बड़े सैनेटोरियम हैं, और डाक्टर तो ऐसे हैं, कि कमाल कर दिखाते हैं। ख़राब-से-ख़राब हालत वाले मरीज़ को भी अच्छा कर देते हैं। बस, किसी अच्छे-से सैनेटोरियम में तुम्हें भर्ती करा दूँगा, और तुम शीघ्र ही चंगे हो जाओगे।"

हल्की-सी मुस्कान व्यक्त हो गई रतन के सूखे, मुर्झाये चेहर पर।

"सच, पिताजी? चंगा हो जाऊँगा?"

"हाँ, बेटा, सच, बिलकुल सच। तुम चंगे हो जाओगे, तन्दुरुस्त हो जाओगे। और तब हम विश्व भ्रमण करेंगे—ट्रेन, कार, एरोप्लेन और जहाज से सारी दुनियाँ की सैर करेंगे। ईरान में हाफिज का मकबरा देखेंगे, अरब में ऊँटों की सवारी करेंगे, मिस्र के पिरेमिड देखेंगे और नील नदी की यात्रा करेंगे, इटली के प्राचीन ध्वंसावशेष देखेंगे, फ्राँस के अंगूर के बागों और जर्मनी के राइनलैंड की सैर करेंगे, इङ्गलैंड के सुन्दर, फूलों से भरे देहाती क्षेत्रों में घूमेंगे, अमेरिका की गगनचुम्बी इमारतें देखेंगे, चीन जायँगे, जापान जायँगे, दक्षिणी सागर के सुन्दर मनोरम द्वीप देखेंगे, आस्ट्रेलिया की दर्शनीय कृषिशालायें और गोशालायें और रंगून का स्वर्ण मंडित पैगोडा देखेंगे, और फिर अपने भारत में कन्या कुमारी से हिमालय तक यात्रा करेंगे।"

"ओह, पिता जी, कितना अच्छा होगा यह तो!" रतन की क्षीण, बीमार आवाज में खुशी के फौवारे छूट पड़े। "और फिर?"

"फिर तुम अपनी रुकी हुई पढ़ाई जारी कर देना, और पढ़ाई खतम कर चुकने के बाद एक खूबसूरत, पढ़ी-लिखी, खुशमिज़ाज लड़की के साथ शादी कर लेना। और तब सारा कारबार तुम्हें सौंप कर मैं भगवत-भजन में लग जाऊँगा।"

"नहीं, पिताजी, नहीं," रतन ने ठुनक कर विरोध किया—"अकेले भगवत-भजन नहीं। आप भगवत-भजन भी कीजियेगा, कारबार भी देखियेगा। आपका इतना लम्बा-चौड़ा कारबार मैं अकेले कैसे सँभाल सकूँगा ?"

"अच्छा, बेटा, अच्छा। जैसा तुम चाहोगे, वैसा ही होगा। बस, तुम अच्छे हो जाओ।"

"मैं अच्छा हो जाऊँगा न, पिता जी ?"

"जरूर अच्छे हो जाओगे, बेटा।"

रतन चुपचाप मुस्कराता रहा थोड़ी देर तक। जैसे भविष्य की रंगीन कल्पना में खो गया हो। फिर धीरे-धीरे उसकी आँखें बन्द हो गईं।

'पिता जी' कहना सेठानी ने सिखाया था रतन को। उनका कहना था, कि इसी शब्द में वह गहरी श्रद्धा है, जो एक पुत्र को अपने पिता के लिये होनी चाहिए। बप्पा, बाबू जी, पापा आदि में ऐसी बात नहीं। और जब पहले-पहल "पिता जी" कहा था रतन ने, तो रस का सागर उमड़ पड़ा था उनके हृदय में। रतन पर जान देती थीं सेठानी। हर समय उनका मन बसा रहता था रतन में। उनकी सारी ममता, सारा स्नेह केंद्रित रहता था रतन पर। कभी-कभी तो उन्हें ईर्ष्या होने लगती थी रतन से, और तब वह बलपूर्वक दाब देते थे उस भावना को। लम्बे अरसे की बीमारी के बाद संसार से विदा होते समय कहा था सेठानी ने—"रतन को देखियेगा।" और तब से माँ का स्थान भी ले लिया था उन्होंने। रतन की देख-रेख में उन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा। फिर भी रतन फँस गया इस भयानक रोग के चंगुल में। अपनी जान में कभी कोई त्रुटि उन्होंने नहीं होने दी रतन की देख-रेख में। पौष्टिक भोजन, वायु-सेवन, व्यायाम, स्वास्थ्य-रक्षा की हर बात की समुचित व्यवस्था की थी

उन्होंने। फिर भी यह कठिन रोग हो गया रतन को। सेठानी जीवित होतीं, तो शायद ऐसा न होता। शायद!

"पिता जी!" एकाएक चीख पड़ा रतन, और आँखें फाड़-फाड़ कर इधर-उधर देखने लगा।

"क्या है?" और शीघ्रता से रोग-शैया के समीप जा कर, सेठ जी झुक गये रतन के ऊपर।

"अँधेरा क्यों घिर रहा है, पिता जी?"

अँधेरा तो नहीं है, बेटा। रोशनी है कमरे में।"

"नहीं, रोशनी कहीं नहीं है। अँधेरा घिरता जा रहा है।"

"रोशनी है, बेटा। शायद तुम सपना देख रहे हो।"

"नहीं, मैं जाग रहा हूँ। रोशनी कहीं नहीं है। अँधेरा फैल गया है चारों तरफ। आप कहाँ हैं?"

"तुम्हारे सामने ही तो खड़ा हूँ, बेटा।"

"मैं आपको देख नहीं पा रहा हूँ। घुप अँधेरा है।"

"नर्स!" जोर से आवाज लगाई सेठ जी ने।

"अरे, मैं तो नीचे धँसा जा रहा हूँ! पकड़ लीजिये मुझे, पिता जी! बचाइये मुझे!"

"अपने को सँभालो, बेटा। तुम कहीं धँस-वँस नहीं रहे हो। तुम अपने बिस्तरे पर लेटे हो।" और पलंग पर बैठ कर, उन्होंने रतन का सिर अपनी गोद में रख लिया, और उसके शरीर पर हाथ फेरने लगे।

नर्स आ खड़ी हुई सामने।

"फोन कर के डाक्टर को बुलाओ—फौरन!" कुछ घबराये स्वर में सेठ जी ने कहा।

नर्स चली गई तेजी से।

आँखें मुँद गईं रतन की ।

"पिता जी !" जैसे बहुत दूर से आवाज आई ।

"बेटा !"

होंठ हिले रतन के, लेकिन कोई शब्द सुनाई नहीं दिया । जैसे आवाज की दूरी इतनी बढ़ गई हो, कि उसका सुनाई पड़ना सम्भव ही न रह गया हो ।

आशंकित भाव से सेठजी ने नाड़ी देखी रतन की । बहुत धीमी चल रही थी नाड़ी । सीने पर हाथ रक्खा । रुक-रुक चलती प्रतीत हुई साँस । सिर चकरा गया सेठ जी का ।

नर्स ने लौट कर सूचना दी --"डाक्टर साहब आ रहे हैं ।"

"जरा इनकी नाड़ी तो देखो, नर्स ।"

नर्स ने नाड़ी देखी, तो चिन्तित हो उठी । पर अपने चिन्ता-भाव को दबा कर, बोली—"नाड़ी कुछ कमजोर चल रही है । आप घबरायें नहीं । डाक्टर आते ही होंगे ।"

पर घबराहट कम नहीं हुई सेठ जी की । सिर चकराने लगा, शरीर काँपने लगा । अंधकार घिरने लगा चारों ओर । लगा, कि सँभले बैठे न रह सकेंगे । रतन का सिर धीरे से तकिये पर रख कर, वे उतरे पलँग से, तो बुरी तरह लड़खड़ा गये । नर्स ने सहारा दे कर उन्हें बिठा दिया आरामकुरसी पर । कोशिश करने लगे सेठजी अपने को सँभालने की । पर शरीर काँपता ही जा रहा था । अँधेरा घिरता ही जा रहा था चारों ओर । यह क्या हो रहा है ? हे ईश्वर !

डाक्टर आ गये पंद्रह मिनट में, और परीक्षा करने लगे रोगी की । असीम विकलता में डूबे, खड़े देखते रहे सेठ जी ।

दो-तीन मिनट तक परीक्षा करने के बाद, दीर्घ निश्वास फेंक कर, स्टेथस्कोप कानों से उतारते हुए, संवेदना के स्वर में डाक्टर ने कहा—"सब समाप्त हो गया। जीवन का कोई चिह्न अब शेष नहीं रहा। मुझे बड़ा अफसोस है, सेठजी! सब्र कीजिये।"

"बेटा!" चीख की तरह निकला सेठ जी के मुँह से, और वे कटे हुए वृक्ष की तरह लड़खड़ा कर गिरने लगे।

लपक कर डाक्टर ने सँभाल लिया उन्हें अपनी बाँहों में, और फिर नर्स की सहायता से लिटा दिया आराम-कुरसी पर।...

जो बेटे को करना चाहिये था, वह बाप को करना पड़ा। पुत्र की चिता को अग्नि दी सेठजी ने, और जब चिता जल कर राख हो गई, तो उसकी अस्थियाँ सौंप दीं गंगा की लहरों को। और उस समय जी में आया उनके, कि गंगा में कूद कर अपना किस्सा भी खत्म कर दें। पर तभी किसी ने कहा उनके मन में, 'दुख के प्रवाह में बह न जाना चहिये मनुष्य को। भयानक-से-भयानक दुख के बीच भी सँभल कर खड़ा रहना मनुष्य का धर्म है। सेठानी का वक्त आ गया, और वह चली गई। जब तुम्हारा वक्त आ जायगा, तो तुम्हें भी जाना ही होगा। वक्त आने से पहले जाने की कोशिश करना कायरता है।'

नातेदार, आत्मीय, मित्र, सभी संवेदना प्रकट करने आये। लेकिन संवेदना-प्रदर्शन में सबसे आगे रहे श्यामदास, सेठजी के छोटे भाई, जो बहुत पहले पैतृक सम्पत्ति का बटवारा कराकर उनसे अलग हो गये थे। श्याम दास बड़े भाई से अलग थे, तो क्या हुआ? शोक के समय भी कहीं अलगाव का ख्याल किया जाता है? भाभी की मृत्यु के समय न आ कर उन्होंने भूल की। उस भूल को दुहराने की मूर्खता अब वे कैसे

कर सकते थे ? फिर मनमुटाव अब कायम भी कैसे रह सकता था, जब कि भैया की सम्पत्ति पर अब उन्हीं का हक तो था ! भैया के अब बैठा ही कौन था उनका उत्तराधिकारी बनने वाला ?

अर्द्ध-रात्रि बीत चुकी है। सेठ जी पड़े हुए हैं, शोक में डूब हुए, अपने कमरे में फर्श पर बिछी चटाई पर। एक ओर मेज पर लैम्प जल रहा है। लेकिन जैसे घुटन-भरा अंधकार छाया हुआ है उनके भीतर, बाहर, चारों ओर। चला गया रतन, उनका एकमात्र पुत्र, उनकी एकमात्र सन्तान, उनका एकमात्र उत्तराधिकारी। कैसे यत्न से उन्होंने पाला-पोसा था उसे। और नवयौवन के प्रांगण में प्रवेश का, वह एक हृष्ट-पुष्ट, स्वरूपवान, तेजस्वी नवयुवक बन गया था। फूल बन कर विहँस रहा था अपनी पूर्ण सुन्दरता के साथ। पर तभी जाने कहाँ से आकर एक विषैला कीड़ा घुस गया उसके अन्दर, जिस ने उसका सारा रस चूस लिया। फूल सूख गया। और एक दिन हवा का एक तेज झोंका आया, और फूल डाल से टूट कर बिखर गया जमीन पर ! बढ़ा-चढ़ा आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी नहीं बचा सका उसे। उनका धन भी नहीं बचा सका उसे। उनका प्यार भी नहीं बचा सका उसे।

करोड़ों की सम्पति जोड़ी उन्होंने—किसके लिये ? अपने लिये, अपनी पत्नी के लिये, अपने पुत्र के लिये। सेठानी चली गईं, रतन चला गया, और एक दिन उन्हें भी जाना होगा। तब कौन भोगेगा इस विशाल सम्पत्ति को ? श्यामदास और उसके परिवार वाले—वह लोग, जो हमेशा उन से ईर्ष्या करते रहे, उन्हें देख कर जलते रहे।

वे तिलमिला कर उठ बैठे।

आदमी धन कमाता है क्या इसीलिये, कि एक दिन वह उसके पट्टी-

दारों के हाथ चला जाय, और वे गुलछर्रे उड़ायें, मौज करें ? नहीं, नहीं। यह तो धन का दुरुपयोग है।

वे सोचते रहे, सोचते रहे।

और एकाएक उनके मन के अंधकार में एक दीपक जल उठा और उसका आलोक फैल गया उनके भीतर, बाहर, चारों ओर।

सबेरे अपने प्रधान मुनीम से सेठजी ने कहा—"वकील साहब को फौरन बुलवाइये, रामलाल जी।"

"कोई काम है क्या, सरकार ?"

"बहुत जरूरी काम है। आप गाड़ी ले कर खुद चले जाइये, और उन्हें साथ ले कर आइये।"

"बहुत अच्छा, सरकार।"

वकील साहब आ गये घंटे भर में। मंत्रणा हुई। सारी कार्रवाई पूरी हो गई उसी दिन। दान-पात्र तैयार हुआ, और उसकी रजिस्ट्री भी हो गई।

और दूसरे दिन पत्रों में प्रकाशित हुआ यह समाचार, कि सेठ जी ने अपनी सारी सम्पत्ति एक कॉलेज की स्थापना और अन्य लोकोपयोगी कार्यों के लिये दान कर दी। अपना कारबार वे पूर्ववत चलाते रहेंगे, और उसकी आय में से अपने व्यक्तिगत खर्च से अधिक कुछ न लेंगे।

सारे नगर में फैल गई खबर थोड़ी देर में। जो पढ़ता या सुनता, चकित रह जाता। किसे आशा थी ऐसी सेठजी से ?

श्यामदास ने बड़े भाई के अपूर्व दान का समाचार पढ़ा, तो बधिया बैठ गई उनकी। बुरा हाल हो गया, संज्ञाशून्य से हो गये। मुँह लटकाये हुए, दूकान से घर आ कर पत्नी से बोले—"किस्मत ने हमें फिर धोखा

दिया, हीरा की माँ। भैया ने हमारी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी। हमेशा चालबाजी की उन्होंने हमारे साथ। अपनी किस्मत ही खराब है, नहीं तो यह पाप की बात क्यों सूझती उन्हें? जो अभागे हैं, अमीरी जिनके भाग्य में बदी नहीं, वे अमीर कैसे हो सकते हैं? खैर, अपनी परचून की दूकान ही सलामत रहे। रोटी चलती ही रहेगी किसी-न-किसी तरह।"...

रतन इंटर कॉलेज बन कर तैयार हो गया है। कांक्रीट की सुन्दर शानदार, दुमंज़िली इमारत है। इमारत के चारों ओर फल-फूल का सुन्दर बाग़ लगाया गया है। एक आधुनिक कालेज की आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ख़्याल रक्खा गया है। कक्षा और कार्यालय के कमरों के अतिरिक्त विशाल हाल, पुस्तकालय, वाचनालय, वैज्ञानिक प्रयोगशाला, खेल का मैदान, व्यायामशाला, तैरने का तालाब, सब-कुछ है। अध्यापकों की नियुक्तियाँ हो चुकी हैं। विद्यार्थी भरती किये जा चुके हैं।

आज उद्घाटन समारोह है। सारा कॉलेज वंदनवारों, फूल-पत्तों और झंडियों से सजाया गया है। रोशनी का भी शानदार इन्तजाम है। उद्घाटन के बाद ऐट होम होगा, संगीत तथा नृत्य का कार्य-क्रम होगा, नाटक खेला जायगा। उद्घाटन सभा की अध्यक्षता हाई कोर्ट के चीफ जस्टिस करेंगे। उद्घाटन-कार्य सम्पन्न करने के लिये राज्य के शिक्षा मन्त्री स्वयं पधारे हैं।

तीसरे पहर उद्घाटन सभा में सम्मिलित होने के लिये नगर के गण्य-मान्य व्यक्ति तथा जनता की भारी भीड़ कॉलेज में उपस्थित हुई।

ठीक चार बजे सभा का कार्य-क्रम आरम्भ हुआ।

वन्दना-गान हुआ। स्वागत-भाषण हुआ।

फिर शिक्षा-मन्त्री का भाषण हुआ। अपने भाषण में मन्त्री महोदय

ने कहा—"इस कॉलेज की स्थापना तथा अन्य लोकोपयोगी कार्यों के लिये अपनी समस्त संपत्ति दान करके सेठ धर्मदास जी ने धनिक वर्ग तथा अन्य सभी वर्गों के सामने अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है। व्यक्ति को अपने और अपनों के लिये ही नहीं, समष्टि के लिये भी जीना चाहिये। व्यक्ति को अपने धन का उपयोग अपने ही लिये नहीं समाज के लिये भी करना चाहिये। समय तेज़ी के बदल रहा है, और बदलते हुए समय की यही पुकार है। सेठजी ने जितना त्याग किया है, उतना सब लोग न कर सकें, पर कुछ-न-कुछ तो सभी कर सकते हैं। जिस नये समाज का हम निर्माण करने जा रहे हैं, वह हमारे त्याग और परिश्रम से ही निर्मित हो सकेगा।..."

इसके बाद कई अन्य सज्जनों के भाषण हुए, जिनमें सेठजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी।

फिर सेठजी बोलने के लिए खड़े हुए। उन्होंने कहा—"सभापति महोदय, मन्त्री महोदय, देवियो और सज्जनो! परम उदारतापूर्वक इस समय मेरी जो प्रशंसा की गई है, उनके योग्य मैं अपने को नहीं समझता। उदार वक्ताओं ने निश्चय ही अतिशयोक्ति से काम लिया है। फिर भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

"जब मेरा पुत्र रतन चला गया, तो मेरी दुनिया अँधेरी हो गई। लेकिन ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद है, कि मेरी अँधेरी दुनिया में अब फिर उजाला आ गया है! मेरा एक रतन मुझसे छिन गया, लेकिन आज मुझे सैकड़ों रतन मिल गये हैं! आप लोग मुझे आशीर्वाद दें, कि मैं अपने इन बच्चों की सेवा के योग्य बन सकूँ!"

इससे अधिक सेठजी कुछ नहीं कह सके। गला भर आया। आँखों से आँसू की धारें बहने लगीं।

● ● ●

दीपदान

बात की तह तक पहुँचने की आदत-सी हो गयी है दिनेश की। इसमें मनस्ताप भी होता है कभी-कभी। किन्तु इसमें वह कुछ है, जो अन्तर का जाने कौन-सा द्वार खोल देता है, कि मीठी-मीठी बयारें आ-कर मन को थपकियाँ दे-देकर उसका सारा सन्ताप हर लेती हैं, और अन्तर्दृष्टि को अधिक-से-अधिक निर्मल कर देती हैं।

जन्म से बने नाते-रिश्तों को भी कायम रखना कोई हँसी-खेल नहीं। इसके लिए जिस न्यूनाधिक त्याग की, कुछ दे, कुछ ले की आवश्यकता होती है, वह तो जैसे मनुष्य के वश की बात ही नहीं। वश की बात हो भी, तो यह मानने को तैयार ही कहाँ होता है कोई ?

झगड़ा कहाँ नहीं होता ? जहाँ चार बर्तन होते हैं, वहाँ खटक होती ही है। लेकिन जब बात का

बतंगड़ बन जाता है, और अपनत्व के बंधनों को तोड़कर तीव्रतम दुराव का परिचय दिया जाने लगता है, तो मामला उस सीमा तक पहुँच जाता है, जहाँ खेद के सिवा समझदार के हाथ कुछ नहीं लगता।

झगड़ों के पीछे जो भावनाएँ काम करती रहती हैं, उनके उद्गम तक पहुँच कर वास्तविकताओं को जाँचना-परखना सम्भव ही कहाँ होता है अधिकतर व्यक्तियों के लिए ! सम्भव हो भी, तो रुचि का अभाव। रुचि ही हो, तो दुर्भाव को प्रश्रय देने की बात ही क्यों रहे ?

ईश्वर को साक्षी देकर, अपने मन की पूरी सच्चाई के साथ दिनेश कह सकता है, कि दादा तथा उनके परिवार के प्रति उसने कभी दुर्भाव को प्रश्रय नहीं दिया। उन लोगों के प्रति अपने अपनत्व को उसने कभी स्वप्न में भी आँच नहीं आने दी। किन्तु उसका अपनत्व उन्हें कभी स्वीकार नहीं हुआ—न वचन से, न मन से। परिणाम-स्वरूप उसके परिवार के तथा उसके प्रति उनका दुर्भाव दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक बढ़ता ही गया।

बात की तह में जो वास्तविकताएँ थीं, उनसे परिचित होने में उसे देर नहीं लगी। उन वास्तविकताओं ने उससे जिस बलिदान की माँग की उसे देने से भी क्या वह पीछे हटा ?

वर्षों पहले इस खटक का स्पष्ट आभास पाते ही, इसके निराकरण के लिए, वह दादा से अलग हो गया था। किन्तु रोग यदि असाध्य हो, तो अच्छी-से-अच्छी चिकित्सा भी काम कहाँ देती है ? उसकी कार्यवाही की प्रतिक्रिया अनुकूल न हो सकी। उसका गलत अर्थ लगाया गया, और उसे जी भरकर बदनाम किया गया। उसके वास्तविक अभिप्राय पर परदा डालकर, नये-नये अभिप्राय गढ़े गये। और लोगों की छिद्रान्वेषण-प्रियता

ने उन लोगों की बातों को उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। मान लिया गया, कि उसमें सहनशीलता का अभाव है, स्वार्थपरता है, कुटिलता है। किन्तु सारी बदनामी चुपचाप ओढ़कर भी वह खटक दूर करने के प्रयास में लगा ही रहा। पर खटक न दूर होनी थी, न हुई। इकतरफा प्रयास से कहाँ दूर होती है पारस्परिक खटक ? आये दिन वह प्रकट होती ही रहती, कभी किसी बात में, कभी किसी बात में। खटक प्रकट करने की उत्सुकता ही हो, तो साधन का अभाव कहाँ रहता है ? छोटी-छोटी बातें होतीं, लेकिन जहर में बुझे तीर जैसी। उस जगह कूड़ा क्यों डाला, ऊपर से पानी क्यों गिराया, गाना क्यों गाया, अमुक पड़ोसिन क्यों आयी, ऐसा क्यों हुआ, वैसा क्यों हुआ।

शकुन्तला, दिनेश की पत्नी, चूल्हा जला रही थी। लकड़ियाँ इधर नयी कटान की आ गई थीं, इसलिए ठीक से जलती न थीं। धूप में सुखायी थीं उसने लकड़ियाँ, फिर भी उनका गीलापन अभी पूरी तरह दूर नहीं हुआ था। आग जलती, और बुझ-बुझ जाती। ऐसी दशा में धुआँ होना अनिवार्य ही था। हवा का रूख उधर था, इसलिये धुएँ की कुछ लहरें नीचे भी पहुँच गयीं। बस, फिर क्या था, मिल गया बहाना।

"बाप रे बाप !" नीचे से जेठानी जी की क्रोध-भरी आवाज आयी—"घर भर में धुँआ फैला दिया। दम घुटा जा रहा है।"

"आग जल नहीं रही है, इसलिए थोड़ा धुआँ हो रहा है," शकुन्तला ने कहा—"अभी निकल जाएगा।"

"जब निकल जाएगा, तब निकल जाएगा ! अभी तो बुरा हाल हो रहा है हमारा।...लकड़ियाँ अगर सूखी ली जाएँ, तो धुआँ क्यों हो ? लेकिन यहाँ तो मतलब यह रहता है, कि आग चाहे जले या न जले,

धुआँ जरूर हो ! धुआँ न होगा, तो लोगों की आँखें कैसे फूटेंगी, दम कैसे घुटेगा ?"

"कैसी बात करती हो, जीजी ?" शकुन्तला ने अपने स्वर को भरसक शान्त रखने की कोशिश करते हुए कहा—"गीली लकड़ियाँ क्या हमने जान-बूझकर खरीदी हैं ? धुआँ करने में क्या हमें मजा आता है ?"

"मजा आता ही होगा, तभी तो धुआँ करती हो !" जेठानी जी और भी तीखी आवाज में चीखीं—"दूसरों को तकलीफ पहुँचाने में मजा नहीं, तो और क्या है ?"

"जिसे मजा आता होगा, उसे आता होगा, हम तो दूसरों का भला ही चेतते हैं।"

"बहुत देखे हैं भला चेतने वाले ऐसे ! मुँह में राम, बगल में छूरी !"

"जो जैसा होता है, वह दूसरों को भी वैसा ही समझता है," सहन-शक्ति की सीमा पर पहुँच कर, शकुन्तला ने कहा—"अपने ऐब नहीं देखते, दूसरों में ऐब खोजते फिरते हैं।"

"जो ऐबी होता है, उसके ऐब आप ही बोलते रहते हैं ! उन्हें खोजने की जरूरत नहीं पड़ती !"

"मैं ऐबी ही सही," शकुन्तला ने चिटककर कहा—"तुम तो बड़ी पाक-साफ हो !"

"सो तो हम हैं ही।...पाक-साफ भी हैं, उदार भी हैं। उदार न होते हम, तो कभी निकाल बाहर करते घर से।"

"बड़ी आयीं निकाल बाहर करने वाली ! जैसे हमारा हक ही नहीं है घर पर।"

"हक की बात तब मालूम होगी, जब निकाली जाओगी घर से !" जेठानी जी ने गरजकर कहा—"हक है इनका ! मुँह धो रखो !"

"हक तो है ही हमारा। कौन छीन सकता है हमारा हक ? कोई अंधेर नहीं है।"

"अंधेर करने वालों को अंधेर का ही सामना करना पड़ता है। जब अदालत जाना पड़ेगा, तब मालूम होगा आटे-दाल का भाव।"

बात बढ़ती गयी, बढ़ती गयी। और नौबत गाली-गलौज तक पहुँच गयी। चीखने-चिल्लाने की ताकत जब गले में न रही, तो बड़बड़ाहट का सहारा लिया गया।...

दिनेश जब दफ्तर से लौटकर आया, तो शकुन्तला ने सारा किस्सा सुनाकर, कहा—"वह लोग चाहते हैं, कि हम घर छोड़कर चले जाएँ।"

"जानता हूँ," दीर्घ निश्वास छोड़कर दिनेश ने कहा।

"तो फिर चुप क्यों बैठे हो ? क्या अपना हक छोड़ दोगे ?"

"शायद छोड़ ही देना पड़े।"

"कैसी बात करते हो ? कोई अपना हक छोड़ देता है भला ?"

"चुपचाप रहो अभी। देखा जाएगा वक्त आने पर।"

"जब वक्त आएगा, तो हाथ के तोते उड़ जाएँगे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने से।" शकुन्तला ने फिर चेतावनी दी।

पर चेतावनी क्या मन भी नहीं दे रहा था उसका ? लेकिन दुनियादारी की किसी चेतावनी का असर कहाँ होता था उस पर। जिस दृष्टिकोण से विचार करता था वह ऐसे हर प्रश्न पर, उसमें दुनियादारी की सारी मान्यताएँ बेबस होकर रह जाती थीं। वास्तव में वह चाहता था, कि दुनियादारी की प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नवीन मान्यताओं को

प्रश्रय मिले। उसका दृष्टिकोण नक्कारखाने में तूती की आवाज ही सही, पर चहुँ ओर व्याप्त अंधकार में जो दीपक उसने जलाया था, उसे जलता रखने की ही चिन्ता थी उसे।

जिस बात का सन्देह था उसे, उसकी वास्तविकता का आज इस तरह स्पष्ट आभास मिल गया। जिस घर में वे सब रहते थे, उसका निर्माण पितामह तथा पिता जी ने मिलकर कराया था। इसलिए उस पर उसका भी उतना ही अधिकार था, जितना दादा का। लेकिन न जाने कैसे दादा ने यह मान लिया था, कि उस पर केवल उन्हीं का अधिकार है। यदि कोई यह जोर-शोर से मान लेता है, कि कोई वस्तु विशेष उसकी है, तो उसे अपनी करने में क्या वह कुछ उठा रखना चाहता है? तो घर में आये दिन जो झगड़े-टंटे होते रहते थे, उनके मूल में कुछ उठा न रखने की यही भावना थी। यह भावना मनुष्य को किसी भी हद तक ले जा सकती है। इसके शमन का प्रश्न ही कहाँ उठता है, जहाँ इसे प्रश्रय देने की उत्सुकता हो?

खटक बढ़ती ही गयी। आये दिन झगड़े-टंटे होते ही रहे अधिकाधिक उग्रता से।

दम घोंटने वाला-सा वातावरण उपस्थित रहता हर समय घर में। दिनेश प्रयास करता रहता इस विषमता का शमन करने का। किन्तु इकतरफा प्रयास काम कहाँ देता है ऐसे मामले में?

दादा के लड़कों की उद्दण्डता बढ़ती जा रही थी दिनों-दिन। दादा से वे डरते और दबते थे। लेकिन मा से डरने या दबने का तो कोई सवाल ही न था। उनके लिए तो वे दूध के धोये ही थे। उनके निकट तो उनकी हठधर्मी भी पीठ ठोंकने की चीज थी। मा से झगड़ते, आपस

में लड़ते, जमकर उपद्रव करते। और मा के पास "हाँ, हाँ, क्या करते हो," "मैं तो हार गयी तुम लोगों से" से अधिक अपने लाड़लों के लिए ऐसे अवसरों पर भी कुछ न होता। आपस में भी जब उनका यह हाल था, तो दिनेश और उसके बीबी, बच्चे तो गैर थे ही आखिर। निपट अवहेलना के सिवा और कुछ न था उन लोगों के लिए उनके पास।

हार्दिक खेद होता दिनेश को उनके रंग-ढंग देखकर। पर वह कर ही क्या सकता था? उसे अपना वे मानते ही कहाँ थे, कि उसकी किसी बात पर कान देते?

मानव की आदिम बर्बर प्रवृत्तियाँ जन्म से ही मनुष्य में विद्यमान रहती हैं, और अनुकूल वातावरण पाकर विकसित होती जाती हैं। उनका शमन संस्कृति के कठोर अनुशासन से ही सम्भव होता है। किन्तु जहाँ संस्कृति की मान्यताओं की ही अवहेलना हो, वहाँ बर्बर प्रवृत्तियों के शमन की आवश्यकता महसूस ही कहाँ होती है?

दादा के मँझले ने एक दिन पीट दिया खेल-खेल में दिनेश के छोटे को। छोटे रो पड़ा जोर से, तो शकुन्तला भागी आयी नीचे।

"क्यों रो रहा, रे?" शकुन्तला ने चिन्तित स्वर में पूछा—"क्या हुआ?"

छोटे ने रोते हुए कहा—"महेश ने मारा है मुझे।"

जेठानी जी भी आ गयी थीं। बोलीं—"कुछ तो किया ही होगा तुमने। लल्लू बेमतलब नहीं लड़ता किसी से। उसकी ऐसी आदत नहीं है।"

"मैंने कुछ नहीं किया था," छोटे ने सिसकते हुए कहा।

"इसने मुँह चिढ़ाया था मुझे," महेश बोला।

"मैंने मुँह नहीं चिढ़ाया था," छोटे ने उसी तरह सिसकते हुए कहा।

"नहीं चिढ़ाया था ?" महेश चीखा—"झूठ बोलता है ? मारूँगा फिर अभी।"

"इसने मुँह चिढ़ाया था, तो तुम मुझसे कहते," शकुन्तला ने कहा।

"तुम्हारे पास यह अर्जी देने क्यों जाता ?" जेठानी जी बोलीं।

"तो क्या खा लेगा यह मेरे लड़के को ?" शकुन्तला भी क्रुद्ध होकर बोली।

"खाओ तुम अपने लड़के को," जेठानी जी तिलमिला कर बोलीं—"मेरा लड़का क्या राक्षस है, कि खा लेगा किसी को ?"

"मैंने तुझसे हजार दफ़ा कहा, नन्हें, कि तू इन लोगों के साथ मत खेला कर। लेकिन तू तो मेरी सुनता ही नहीं।"—शकुन्तला ने बेटे का हाथ पकड़कर कहा।

"हाँ, हाँ, अपने लड़कों को बक्स में बन्द करके रखो !" जेठानी जी ने अमृत-वर्षा की—"अछूतों के साथ खेलने से छूत लग जाएगी !"

"एक तो शह देती हो अपने लड़कों को, ऊपर से लड़ती हो ?" शकुन्तला ने उत्तेजित स्वर में कहा—"यह कहाँ की शराफ़त है ?"

"मैं नीच हूँ, और तुम शरीफ हो ?" जेठानी जी चीखीं—"काम चमारिनों का-सा, और बनती हैं शरीफ ! वाह जी वाह !"

बात बढ़ती गयी। और खूब जमकर लड़ाई हुई देर तक।

शाम को जब दिनेश दफ्तर से लौटा, तो शकुन्तला ने सुनाया सारा किस्सा। माथे पर हाथ रखकर, बैठा रह गया दिनेश।

वह झगड़े से बचता है। शकुन्तला भी झगड़ा पसन्द नहीं करती। अपने बच्चों को भी सिधाई से रहने की ही सीख दी है दोनों ने। फिर

भी झगड़े होते ही रहते हैं। बचना चाहकर भी क्या बचा ही जा सकता है झगड़े से? यह खिंचाव-तनाव, यह कलह, यह विषाक्त वातावरण! कितना हानिकर है यह सब मानसिक स्वास्थ्य के लिए! लेकिन इसके निराकरण का जैसे कोई उपाय ही नहीं। क्या करे वह? क्या करना चाहिए उसे?

रात में दादा ने बुलाकर कहा—"देखो, दिनेश, यह रोज-रोज की दाँताकिटकिट ठीक नहीं। इससे तबाही और बरबादी आती है। मैं तबाह और बरबाद होने को तैयार नहीं। इसलिए अच्छा होगा, कि तुम कहीं और जाकर रहो।"

"यानी घर छोड़ दूँ।"

"हाँ, छोड़ दो घर।...एक-न-एक दिन तो तुम्हें छोड़ना ही पड़ेगा यह घर।"

"क्यों?"

"इसलिए कि यह घर मेरा है।"

"मेरा भी तो है यह घर।"

"नहीं, तुम्हारा नहीं है। यह घर सिर्फ मेरा है।"

"किस तरह?"

"बाबा यह घर मुझे दे गये हैं," दादा ने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा—"बाबा इसकी वसीयत कर गये हैं मेरे नाम। और बाबू जी के भी दस्तखत है वसीयतनामे पर।"

"मुझे तो यह मालूम नहीं था।"

"तो अब जान लो। जरूरी न समझा होगा उन लोगों ने तुम्हें बताना, इसलिए न बताया होगा।...तुम अदालत जा सकते हो। लेकिन

अदालत जाने में सिर्फ पैसे बरबाद होंगे तुम्हारे। नतीजा कुछ न होगा। अदालत को वसीयतनामा मानना ही पड़ेगा।"

खामोश बैठा रहा दिनेश।

"अगर तुम यहाँ रहना ही चाहते हो, तो बाजदावा लिख दो," रियायत के तौर पर दादा ने कहा—"बाजदावा लिख देने पर तुम कुछ दिन और रह सकोगे यहाँ—सिर्फ कुछ दिन।"

फिर भी खामोश ही रहा दिनेश।

"बोलो, क्या कहते हो?" दादा ने निर्णय माँगा।

"सोचकर बताऊँगा।"

और उठकर चला आया वह ऊपर।

"क्या कह रहे थे महात्मा जी?" उत्सुकतापूर्वक उसके चेहरे की ओर देखते हुए, शकुन्तला ने प्रश्न किया।

"कहते थे कि घर छोड़कर चले जाओ।"

"वाह! क्यों चले जाएँ हम घर छोड़कर? क्या यह हमारा घर नहीं है?"

"नहीं, यह घर सिर्फ उनका है। बाबा इसकी वसीयत कर गये हैं उनके नाम। और बाबू जी के भी दस्तखत हैं वसीयतनामे पर।"

"यह सरासर झूठ है, जाल है। बाबा ने ऐसी कोई वसीयत न लिखी होगी। बाबू जी ने उस पर दस्तखत हर्गिज न किया होगा।"

"झूठ, सच का फैसला कौन करेगा?"

"अदालत करेगी? और कौन करेगा?"

"अदालत क्या सत्य का पता लगा ही पाती है?" सहज स्वर में दिनेश ने कहा—"जो तथ्य उसके सामने पेश किये जाते हैं, उन्हीं में उसे सत्य की खोज करनी पड़ती है। और यह आसान काम नहीं होता।

तथ्यों के ढेर में सत्य अधिकतर छिपा ही रह जाता है।...और यदि बाबा और बाबू जी ने हमारे साथ अन्याय ही किया है, तो अदालत भी हमारे साथ न्याय कैसे कर सकेगी?"

"तो इतने लोग जो रोज न्याय के लिए अदालत जाते हैं, क्या सब मूर्ख ही हैं?"

"मैं यह नहीं कहता। पर यह सत्य है, कि अदालतों में न्याय की अपेक्षा अन्याय ही अधिक होता है।..."

"तो तुम न जाओ अदालत। मैं जाऊँगी अदालत अपने बच्चों की तरफ से।"—उत्तेजित स्वर में शकुन्तला ने कहा।

"देखो, शकुन, उत्तेजित होने से कोई फायदा नहीं। शान्त मन से विचार करो।"

"तुम साधु बने रहना चाहते हो, तो बने रहो। मेरा तो इससे काम नहीं चल सकता। मैं तो लड़ूँगी अपने हक़ के लिए—डंके की चोट पर लड़ूँगी।"

"लड़ने से क्या जीत हो ही जाती है?"

"जीत हो या न हो, आदमी लड़ तो लेता है।"

खामोश रहा दिनेश।

"इस सारे फ़साद की जड़ में तुम्हारी सिधाई ही है। आदमी जितना दबता है, लोग उसे उतना ही और दबाते हैं। सिधाई से आज की दुनिया में काम नहीं चल सकता। दुनिया से पेश पाने के लिये दुनियादारी चाहिए। लेकिन तुम तो दुनियादारी से दूर भागते रहते हो।"

"मैं जैसा बन गया हूँ, वैसा ही रहूँगा, शकुन," दिनेश ने शान्त स्वर में कहा—"तुम्हारे सुधारने से भी मैं सुधर न सकूँगा। जो सुधार तुम चाहती हो, उसकी गुँजाइश मैं अपने अन्दर नहीं पाता, शकुन।"

सख्त बात आयी ज़बान तक, पर दाँत भींचकर उसे दाब गयी शकुन्तला। आँसू छलक आये आँखों में। घुटनों को हाथोंसे बाँधकर, बाँहों के बीच मुँह छिपाकर, फफक पड़ी वह।

"शान्त हो जाओ, शकुन, शान्त हो जाओ," अगाध स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए, दिनेश ने कहा—"आदमी जो कुछ अपने परिश्रम से कमाए, वही उसका अपना है। बाकी कुछ मिला, न मिला।"

सिसकती रही उसी तरह शकुन्तला।

"मैं जानता हूँ, कि जो कुछ तुम कह रही हो, वही सभी लोग कहेंगे, पर मैं अपने-आप से मजबूर हूँ। मैं जिस तरह सोचता हूँ, वही मुझे ठीक लगता है। उसी में मुझे सत्य के दर्शन होते हैं।"

धीरे से सिर रख दिया शकुन्तला ने दिनेश की गोद में। जैसे शांति की लहरें दौड़ रही हों उसके सारे शरीर में दिनेश के हाथ के स्पर्श से। क्या वह जानती नहीं, कि उसके पति में वह कुछ है, जो बहुतों में नहीं, कि उसकी बातों में सत्य की गूँज रहती है? और इसी कारण तो वह सम्पूर्ण मन से पति की आराधना करती है। किन्तु जब अन्याय होता है, तो मन में टीस होती ही है, और क्रोध की भयानक ज्वाला भड़क ही उठती है। अपने परिवार पर वह सुदृढ़ कवच बनकर छायी रहना चाहती है, और उस पर किसी प्रकार के प्रहार का आभास पाते ही सिंहिनी की तरह सजग, सतर्क होकर खड़ी हो जाती है। यह तो स्वाभाविक ही है, और कदाचित सर्वथा उचित भी। पति के साथ-साथ तो उसे चलना ही है, पर अपने व्यक्तित्व की अवहेलना तो सामर्थ्य से बाहर ही लगती है।

रात भीग गई है। बच्चे सो रहे हैं। शकुन्तला भी सो रही है। पर विचारों में डूबा पड़ा है दिनेश अपनी चारपाई पर। तो बात पूरी तरह

खुल कर आज आ गयी सामने। दादा मकान लेना चाहते हैं, और कहते हैं कि मकान का वसीयतनामा भी है उनके नाम। विश्वास नहीं होता, कि बाबा और बाबूजी ने इतना बड़ा अन्याय उसके साथ किया होगा, जब कि वे उससे अप्रसन्न नहीं थे। इसका कोई अन्य कारण भी दिखाई नहीं देता। शकुन्तला कहती है, कि वसीयतनामे की बात झूठ है, जाल है। वह इन्साफ के लिए अदालत जा सकता है। अदालत में सारी बातें खुलकर सामने आएँगी ही। यदि बाबा का लिखा हुआ कोई वसीयतनामा नहीं है, तो दादा की हार निश्चित है। और यदि ऐसा कोई वसीयतनामा है, तो हो सकता है कि वह जाली साबित हो। यदि वह जाली साबित हुआ, तो दादा फँस जाएँगे बुरी तरह। उन पर जाल का मुकदमा चल जाएगा, और उसका परिणाम कितना खेदजनक होगा। क्या वह पसंद करेगा, कि दादा को सजा हो जाए, और उनके परिवार पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़े? नहीं, नहीं, इसकी तो कल्पना भी अत्यधिक दुखदायी है उसके लिए। तो क्यों न मान ले वह दादा की बात? क्यों न स्वीकार कर ले वह, कि बाबा ने मकान का वसीयतनामा लिख दिया होगा उनके नाम किसी कारण विशेष से? अन्याय की कसक क्या उसके मन में भी नहीं हो रही है? पर दादा के प्रति उसके मन में जो अपनत्व का भाव है, उसके लिए कुछ भी करने में क्या वह कभी हिचका है? इस घर का घुटन-भरा वातावरण न उसके लिए हितकर है, न उसके परिवार के लिए। इस घर को हर हालत में उसे छोड़ ही देना चाहिए। दादा यदि नहीं चाहते, कि वह उनके साथ रहे, तो उसे उनके साथ रहने की जरूरत ही क्या है? आदमी यदि कमाता है, तो उसका यह चाहना स्वाभाविक ही है, कि वह शान्तिपूर्वक खा-पी सके, रह सके। नहीं, नहीं, उसे यहाँ रहने की कोई जरूरत नहीं। इस विशाल संसार में रहने के

लिए थोड़ी-सी जगह उसे मिल ही जाएगी। जिनके पास अपने घर नहीं हैं, वे सब-के-सब क्या पेड़ों के नीचे ही रहते हैं? खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने तथा अप्रत्याशित स्थितियों में पड़ने वाला सारा खर्च वह बर्दाश्त कर लेता है, तो मकान के किराये का जुगाड़ भी वह कर ही लेगा।

और इस निश्चय के साथ शान्ति व्याप्त हो गयी उसके विकल मन में। जो मार्ग उसने अपनाया है, उस पर उसे चलते ही रहना चाहिए, चलते ही रहना चाहिए हर हालत में।

अगले दिन से ही उसने चुपचाप मकान तलाश करना शुरू कर दिया। और एक सप्ताह की दौड़-धूप के बाद एक मकान मिल गया। साधारण-सा मकान था वह, पर काम लायक था। बहुत अच्छा मकान ले भी कहाँ सकता था वह? जितनी चादर थी, उतने ही तो पैर फैलाये जा सकते थे।

और उसी दिन शाम को उसने कह दिया दादा से—"आपकी बात मुझे मंजूर है। मैं बाज़दावा लिख दूँगा।"

"बाजदावा लिख दो, तो तुम खुशी से यहाँ रह सकते हो," दादा ने प्रसन्न हो कर कहा—"मुझे कोई आपत्ति न होगी।"

"मकान भी मैंने ठीककर लिया है। उसमें उठ जाऊँगा जल्द ही।"

"जैसी तुम्हारी मर्जी," दादा और भी प्रसन्न होकर बोले—"ठीकभी है। रोज-रोज की किचकिच अच्छी नहीं होती। मैं तो इसे बिलकुल पसन्द नहीं करता, लेकिन औरतों के मामले में मर्दों की चलती ही कहाँ है?"...

दो दिन बाद ही बाज़दावा लिख कर, दिनेश उठ गया किराये के मकान में। खून के घूँट पी कर रह गयी शकुन्तला।

छोटा-सा मकान था, पर आरामदेह था। और सबसे बड़ी बात यह थी, कि वहाँ किचकिच न थी, झाँय-झाँय न थी, घुटन न थी।

महीने भर बाद ही दीपावली आयी। धुला-पुता, लक-दक घर जैसे मुस्करा रहा हो। उत्साहपूर्वक लगी थी शकुन्तला घर के काम-काज में, लेकिन उदासी छायी थी उसके चेहरे पर।

"क्या बात है, शकुन ?" दिनेश ने चिन्तित स्वर में पूछा—"तबीयत ठीक है न ?"

"हाँ, ठीक है तबीयत।"

"तो फिर उदास क्यों दिख रही हो ?"

"कहाँ ? नहीं तो।"

"कोई बात तो जरूर है ?"

"जी न जाने कैसा हो रहा है।...आज दीवाली है—और हम पुरखों की देहरी पर दिया न जला सकेंगे। जब से मैं ब्याह कर आयी, कभी ऐसा नहीं हुआ।"

"रंज न करो, शकुन," स्वर में आग्रह भर कर दिनेश ने कहा—"आदमी जहाँ रहता है, वही उसका घर होता है, और वही उसके पुरखों का घर भी होता है। आज अपने इस मकान की देहरी पर दिया जला कर, तुम अपने पुरखों की देहरी पर ही दिया जलाओगी।"

"यह तो ठीक है, लेकिन ख्याल तो आता ही है।"

"निकाल डालो इस ख्याल को मन से। मन को छोटा करने वाले किसी ख्याल को टिकने न देना चाहिए मन में। हमारे पुरखे यदि हमारी इस दुनिया का हाल देख सकते हैं, तो उन्हें मालूम होगा, कि इस सारे मामले में हमारा कोई दोष न था। और हमारे इस घर को भी अपना ही घर मान लेने में उन्हें कोई आपत्ति न होनी चाहिए।"...

दिन बीतते गये लस्टम-पस्टम। आर्थिक कष्ट था, पर मन में

अशान्ति न थी। अशान्ति की अग्नि तो दिनेश ने बुझा ही दी थी प्रबल प्रयास से। और किसी अन्य प्रकार की अशान्ति को उभरने देने की तनिक भी रुचि न थी मन में।

काम करता था मन लगाकर, और धन्यवाद देता था विश्व-आत्मा को, कि काम करने की क्षमता क़ायम थी उसके अन्दर, कि आजीविका चल रही थी, जैसे चल सकती थी।

दिन भर दफ्तर में जी तोड़ कर काम, और अवकाश के समय अध्ययन, मनन, चिन्तन। और निरन्तर धोते-पोंछते रहना मन को, कि जो कुछ सर्वाधिक मूल्यवान था पास में, वह अक्षुण्ण ही बना रहे।

दफ्तर का कोई काम ऐसा न था, जिसे वह न जानता हो और निपुणतापूर्वक न कर सकता हो। और कारखाने के तमाम कल-पुर्जों की भी जानकारी रखता था वह। यह सब काम न था उसका, पर जो कुछ सामने हो, उसे बिना किसी विशेष प्रयास के समझ लेने की असाधारण क्षमता थी उसमें। और सहयोगियों तथा अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों के लिये उसमें जो सचाई थी, अपनत्व-भाव था, उसका प्रभाव हुए बिना कैसे रह सकता था? लोग जानते थे, कि उस पर विश्वास किया जा सकता था, और उससे सहानुभूति की अपेक्षा की जा सकती थी।...

भाग्योदय — अनपेक्षित भाग्योदय! एकाएक त्यागपत्र देकर कारखाने के असिस्टेंट मैनेजर किसी बड़ी जगह पर चले गये। और आश्चर्य हुआ दिनेश को, जब बोर्ड आफ़ डायरेक्टर्स ने असिस्टेंट मैनेजर के रिक्त स्थान पर उसकी ही नियुक्ति कर दी। अगाध कृतज्ञता से वह नत-मस्तक हुआ विश्व-आत्मा के सम्मुख, कि उसने अपने अक्षय भण्डार से एक चुटकी और डाल दी उसकी झोली में।

हालत काफी सुधर गयी। पुराना घर छोड़ कर, एक अच्छे-से, हवादार, आरामदेह घर में उठ गया वह। काफी अच्छी व्यवस्था हो गयी परिवार के आराम की।

गृहिणीत्व के गौरव से भरपूर शकुन्तला का अस्तित्व जैसे सहलाता रहता घर के कोने-कोने को। फूल-से दोनों बच्चे विहँसते रहते उस छोटी-सी फुलवारी में।

और क्या चाहिए मनुष्य को ? दिनेश सन्तुष्ट था, कि सन्तोष हिस्से में आया उसके। जीवन जब सन्तोष की अमूल्य निधि उँडेल दे सामने, तो सन्तुष्ट तो होना ही चाहिए।

कभी किसी दिन गिला नहीं किया उसने। फिर भी करुणामय की कृपा-दृष्टि पड़ी उस पर। आस्था में नयी दीप्ति आ गयी।...

तीन वर्ष। काफी लम्बा समय होता है तीन वर्ष का। किन्तु इस बीच दादा ने कभी बात न पूछी, कोई मतलब न रखा। न कभी खुद आये, न उसे ही बुलाया। कई बार चाहा उसने कि वह खुद चला जाए वहाँ कुशल-क्षेत्र पूछने के लिए, पर हौसला न हुआ जाने का। जाने वे क्या समझें, जाने क्या कहें।

जिन रिश्तेदारों या मित्रों से भेंट होती, वे यही बताते कि दादा कटु आलोचना ही करते हैं उसकी।

किन्तु दादा यदि भूल करते हैं, तो क्या उसे भी भूल करनी ही चाहिए ? कटु आलोचना तो नहीं की उसने कभी दादा की किसी से, पर वह गया भी नहीं उनके यहाँ एक बार भी, जब से घर छोड़ कर आया।

दीपावली का पावन पर्व। विहँस रहा है लक-दक घर। उड़ी-उड़ी

फिर रही है शकुन्तला यहाँ-वहाँ, इसको सहेजती, उसको सँभालती। विहँसते, किलकते, खेल रहे हैं, दौड़ रहे हैं बच्चे भीतर, बाहर।

दिनेश बाज़ार से लौटा, तो चकित दृष्टि से देखती रह गयी शकुन्तला।

"हर चीज़ के दो-दो गट्ठर क्यों?" उसने पूछा।

"एक-एक यहाँ के लिए, और—"

"और बाकी कहाँ के लिए?"

"और बाक़ी—दादा के घर के लिए।"

"दादा के घर के लिए?...जो तुम्हारी बुराई करते फिरते हैं, तुम्हें दुश्मन समझते हैं, उनके यहाँ सौग़ात भेजोगे?"

"भेजूँगा नहीं, खुद ले कर जाऊँगा।"

"तो इससे क्या फ़र्क़ पड़ेगा?...सौग़ात भेंट कर के तुम उनके परम प्रिय न हो जाओगे।"

"वे मुझे गैर समझते हों, तो समझें। मैं तो उन्हें आज भी अपना ही मानता हूँ।"

"तो करो, जो जी में आये। मैं तो इसे ठीक नहीं समझती।"...

आठ बज गये हैं रात के। प्रकाश-वर्षा हो रही है चारों ओर। जैसे आस्था फूटी पड़ रही है असंख्य दीपकों की अविरल ज्योति में।

ताँगा रुका दिनेश का दादा के घर के सामने। दादा का बड़ा लड़का रामू खड़ा था दरवाजे पर। दिनेश को देखते ही वह भागा अन्दर खबर देने को।

ताँगे से उतर कर, ताँगेवाले की सहायता से सामान उतारने लगा

दिनेश। लावा, लाई का झाबा था, मिठाइयों का झाबा था, खिलौनों की पिटारी थी, आतिशबाजी की पिटारी थी, कपड़ों का बंडल था।

दादा निकल आये अन्दर से लड़कों के साथ।

"नमस्ते, दादा!"

"नमस्ते, दिनेश!" दादा प्रसन्न स्वर में बोले—"बड़ा अच्छा किया, कि आ गये तुम।...आज तुम्हारा ख्याल आ रहा था मुझे।"

दादा ने लावा, लाई का झाबा उठा लिया, दिनेश ने मिठाइयों का झाबा और कपड़ों का बंडल। लड़कों ने पिटारियाँ ले लीं।

अन्दर गये सब।

भाभी विहँसती हुई सामने आयीं।

"नमस्ते, भाभी!"

"नमस्ते, लाला जी! तुम तो हमें बिलकुल भूल ही गये। जैसे हम सब तुम्हारे लिए मर गए।"

"ऐसा न सोचिए, भाभी," दिनेश ने सहज भाव से कहा—"हम सब तो खैर ही मनाते रहते हैं आप लोगों की।"

"क्या मैं जानती नहीं," भाभी और भी प्रसन्न होकर बोलीं—"जन्म का नाता-रिश्ता कहीं मामूली लड़ाई-झगड़े से टूट सकता है।"

मिठाइयों का झाबा खोल कर, लड़के टूट पड़े मिठाइयों पर।

"ठहरो, कम्बख्तो!" भाभी चीखीं—"अभी गींज-मींज कर धर दोगे सब। मिठाई देखी नहीं, कि टूट पड़े मरभुखों की तरह! जैसे कभी देखी ही न हों मिठाइयाँ!" और वे लपकीं झाबे की तरफ।

"खाने दीजिये, भाभी," दिनेश ने कहा—"आज तो मिठाइयाँ खाने का दिन है।

"खाने को कौन मना करता है ?" भाभी उसी तरह उत्तेजित स्वर में बोलीं—"पर कायदे से खाएँ। यह नहीं कि चौपट करके धर दें सब।"

"यह तो ठीक ही है," दिनेश ने कहा—"अरे, आतिशबाजी तो छुड़ाओ।"

और उसने पिटारी खोलकर, एक बड़ा-सा अनार लेकर आँगन में रख दिया, और दियासलाई दिखा दी बत्ती को। अग्नि के ढेरों फूल ऊँचाई तक उड़-उड़कर गिरने लगे, सफेद, नीला, पीला प्रकाश बिखेरते।

"चलो, लड़को, छुड़ाओ तुम लोग भी।"

लड़के लपक आये पास में उत्सुकतापूर्वक।

"क्या छुड़ाओगे तुम लोग ?..अच्छा, फुलझड़ियाँ छुड़ाओ। जलने का डर भी न रहेगा, और मजा भी खूब आयेगा।" और उसने एक-एक फुलझड़ी थमा दी तीनों लड़कों को।

"खाना यहीं खा लेना आज, लाला जी," भाभी ने आग्रहपूर्ण स्वर में कहा।

"इसकी माफी चाहता हूँ।"

"क्यों ?"

"देर में खाऊँगा। अभी इच्छा नहीं है।"

"तो नाश्ता ही कर लो।"

"कर लूँगा।"

और भाभी सहेजने-धरने लगीं चीजें यत्नपूर्वक। हाल-चाल भी पूछती जा रही थीं साथ-साथ।

क्या यह वही भाभी हैं, जिन्होंने दुश्वार कर दिया था इस घर में उसका रहना ? पर अब खटक का कोई कारण भी कहाँ है ?

नाश्ते के बाद विदा लेकर, जब वहाँ से चलने लगा दिनेश, तो एकान्त में दादा ने कहा— "मुझे इस बात की खुशी है, दिनेश, कि तुम्हारी हालत अब सुधर गयी है।...एक काम करो। एक घर बनवा लो अपने लिए।"

"सोच तो रहा हूँ।"

"जब तुम्हारा घर बन जाएगा, दिनेश, तो तुमसे ज्यादा खुशी मुझे होगी।"

और सचाई की गूँज सुन पड़ी उनके स्वर में। कृतज्ञता उमड़ पड़ी दिनेश के हृदय में।...

रिक्शा चला जा रहा है घर की ओर।

पुलकायमान हो रहा है दिनेश का मन। जैसे शत-शत दीपों का अविरल, निर्मल, धवल प्रकाश फैल रहा हो अन्तरतम में। जैसे शत-शत दीपों का अर्घ्य समर्पित कर रहा हो उसका अस्तित्व उदारमना गणपति को, करुणामयी महामाया को, विश्व की समस्त गोचर-अगोचर कल्याण-मयी शक्तियों को।

घर पहुँचा, तो शकुन्तला ने पूछा—"क्या कहा उन लोगों ने ?"

"बहुत खुश हुए सब लोग।"

"खुश भला क्या हुए होंगे ? हाथी के दाँत—खाने के और, दिखाने के और !"

"कैसी बात करती हो, शकुन ?"

"मैं गलत नहीं कहती। जानते हो, क्या सोचा होगा उन लोगों ने ?...सोचा होगा कि तुम उन्हें अपनी अमीरी दिखाने आये हो !"

"ऐसा नहीं सोचते शकुन। हम अपनी ही नज़रों में छोटे क्यों बनें ऐसा सोचकर ?"

"क्या मैं सोचना चाहती हूँ ऐसा ?" विवशता-भरे स्वर में शकुन्तला ने कहा—"पर ऐसी बातें आ ही जाती हैं मन में, तो क्या करूँ ?"

सचमुच कोई दोष नहीं शकुन्तला का। वह मजबूर है अपने-आप से, जिस तरह दिनेश भी मजबूर है अपने-आप से।

कर्मरत रहे वह इसी तरह अपनी सीमाओं के अन्दर ! धुलता-पुँछता रहे इसी तरह उसका मन ! अर्घ्य समर्पित करता रहे इसी तरह उसका अस्तित्व शत-शत दीपों का अगोचर सर्वशक्तिमान को !